जैन भारती

वर्ष 53 • अंक 9 • सितंबर, 2005

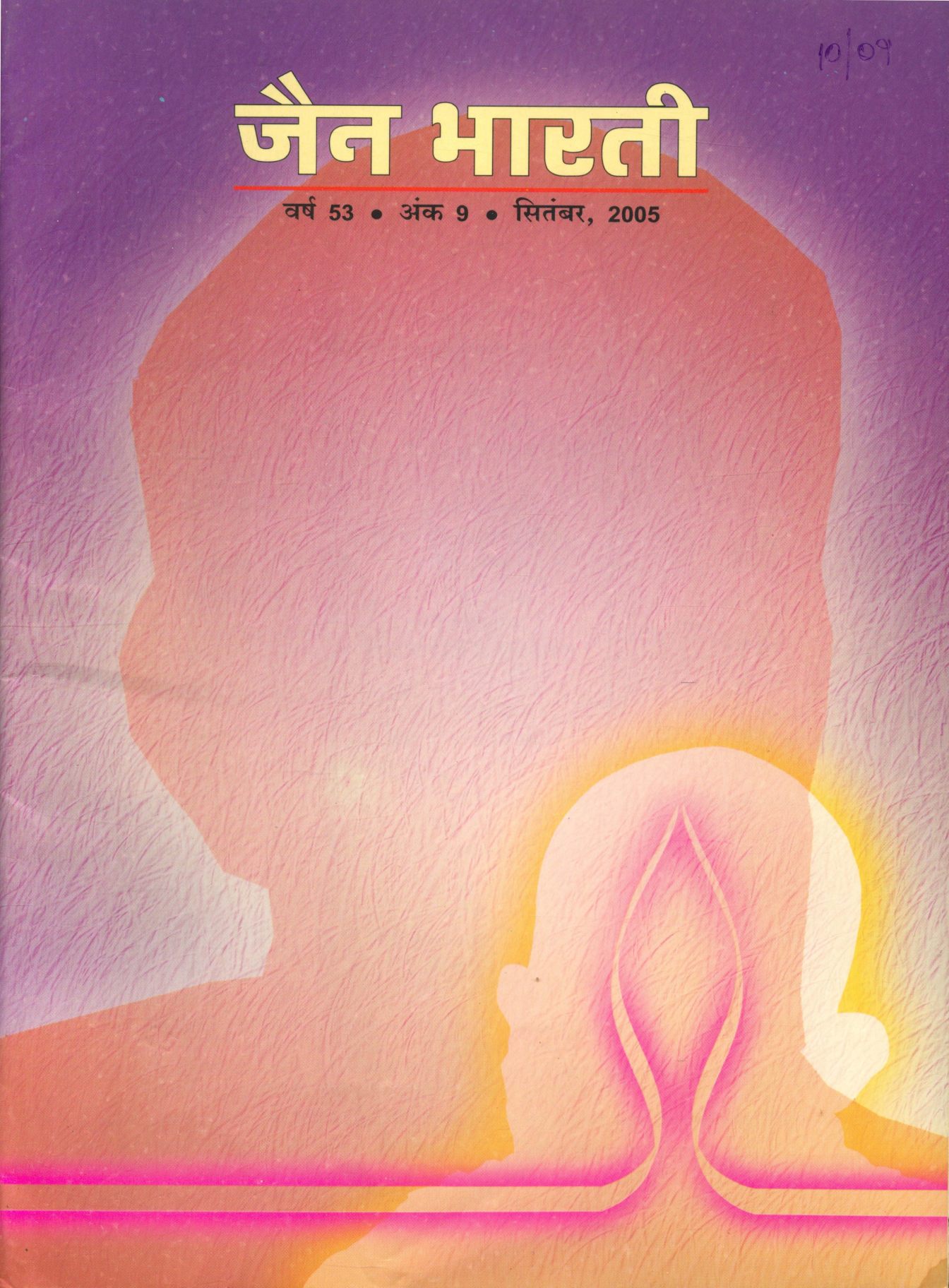

With best compliments from :

卐

KOTHARI METALS LTD.

website : www.kotharimetal.com

SPECIALISTS IN NON FERROUS METALS

Head Office :

'Lords', 7/1 Lord Sinha Road, 5th Floor
Kolkata 700071

Phone : (033) 22828532/8534/7949 | Fax : (033) 22828462
e-mail : vikashji@cal2.vsnl.net.in

Branches at :

Delhi • Mumbai • Gurgaon • Bhiwadi (Rajasthan)
• Ludhiana (Punjab)

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

वर्ष 53 • सितंबर, 2005 •

विमर्श

9
प्रो. दयाकृष्ण
अनंत की प्राप्ति : अंतहीन प्रक्रिया

13
डॉ. एस. राधाकृष्णन
सत्य पर अवलंबित भारतीय धार्मिक परंपरा

16
स्वामी विवेकानंद
अध्यात्म : सर्वोत्कृष्ट ज्ञान

•

आवरण
अडिग

अनुभूति

21
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
मनुष्य : चैतन्य सत्ता का उपभोक्ता

27
साध्वी शुभप्रभा
समर्पण की स्याही से लिखी जीवन-पोथी

31
मुनि संबोधकुमार
वैचारिक क्रांति के प्रतिष्ठापक

33
मुनि मदनकुमार
क्षमा : जीवन का अमृत

36
कहानी
मन्नू भंडारी
हार

40
कविता
मुनि लोकप्रकाश 'लोकेश' की कविताएं

प्रसंग

5
शुभू पटवा
क्षमा-सदाचरण

शीलन

43
आचार्य विनोबा भावे
अहिंसा : आत्मवत् सर्वभूतेषु

46
साध्वी जतनकुमारी 'कनिष्ठा'
क्षमा का उद्भव—आत्मोदय

49
मुनि रमेशकुमार
जीवन : एक उत्सव

53
बालकथा
विभूतिभूषण बंद्योपाध्याय
मास्टरजी

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर • फोन : 2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये • त्रैवार्षिक 500/- रुपये • दसवर्षीय 1500/- रुपये

लिखना मत

पीपाड़ की घटना है। अन्य संप्रदाय का श्रावक मालजी स्वामीजी से चर्चा कर रहा था।

स्वामीजी ने पूछा—'मालजी! छह काय के जीवों को खाने से क्या होता है?'

तब उसने कहा—'पाप होता है।'

फिर स्वामीजी ने पूछा—'छह काय के जीवों को खिलाने से क्या होता है?'

उसने कहा—'पाप होता है।'

तब स्वामीजी बोले—'भारमलजी! स्याही तैयार कर लिख लो—मालजी पानी पिलाने में पाप कहता है।'

तब मालजी तेज स्वर में बोलने लगा—'मैंने पानी पिलाने में पाप कब कहा?'

तब स्वामीजी बोले—'पानी छह काय के भीतर है या बाहर?'

तब वह बोला—'है, है, और है। पर, मत लिखना, मत लिखना।'

इस प्रकार वह हतप्रभ होकर वहां से चला गया।

अपने प्रश्न को देखो

स्वामीजी भीलवाड़ा में विराज रहे थे। वहां अन्य संप्रदाय के एक श्रावक ने स्वामीजी से पूछा—'भीखणजी! किसी श्रावक ने सर्व पापों का त्याग कर दिया, उसे आहार-पानी देने में क्या होगा?

तब स्वामीजी बोले—'धर्म होगा?'

तब उसने कहा—'श्रावक को देने में आप तो पाप मानते हैं, फिर आपने धर्म कैसे कहा?'

तब स्वामीजी बोले—'तुमने जो प्रश्न पूछा, उसे देखो, श्रावक ने सर्व पाप का त्याग कर दिया, तब वह साधु हो गया और साधु को देने में धर्म ही होता है।' ●

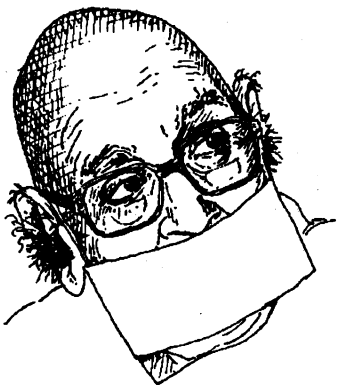

जिस समाज-व्यवस्था में कुछ लोग भौतिक समृद्धि के शिखर पर रहते हैं और कुछ लोगों को दिन-रात श्रम करने पर भी पेट-भर रोटी नहीं मिलती, वहां अपराधी मनोवृत्ति का जन्म होता है। धोलनगर (गुजरात) नरेश का सेवक उनके पांव दबा रहा था। राजा की आंख लगी। सेवक ने अंगूठे में पहना हुआ स्वर्ण आभूषण निकाल लिया। राजा को सेवक पर संदेह हुआ, किंतु कुछ कहा नहीं। दूसरे दिन सेवक फिर पांव दबाने लगा। राजा ने नींद का बहाना बनाया। सेवक ने दूसरे पांव के अंगूठे से आभूषण निकालने का प्रयास किया। राजा ने कहा—'एक तो रहने दे'। सेवक हतप्रभ रह गया। उसका मन अनुताप से भर गया। उसने राजा से माफी मांगी। राजा ने कहा—'यह गलती तेरी नहीं, मेरी है। तुझे वेतन कम मिलता है। इतने वेतन से तेरा गुजारा नहीं हो पाता। मैंने इस ओर कभी ध्यान ही नहीं दिया। मेरी लापरवाही के कारण तेरे मन में अपराधी वृत्ति का जन्म हुआ।' कहा जाता है कि उस दिन के बाद राजा ने अपने सब कर्मचारियों का वेतन बढ़ा दिया।

—आचार्य तुलसी

धर्म हमारा प्राण है। जिसके जीवन में धर्म के संस्कार नहीं, वह श्वास लेते हुए भी निष्प्राण-सा रहता है। धर्म का एक रूप है—उपासना। उपासना के द्वारा इष्ट के साथ तादात्म्य स्थापित हो जाता है। पर कोरी उपासना पर्याप्त नहीं होती। उपासना के साथ-साथ यदि जीवन में नैतिकता है, ईमानदारी और चरित्र के प्रति निष्ठा है—तो वहां धर्म कभी भी कोरी रूढ़ि नहीं बनेगा। आज अपेक्षा है कि धर्म हमारे जीवन की प्रयोगशाला बने। प्रयोग के आधार पर जो परिणाम आता है, वही जनमान्य बनता है और यथार्थ की कसौटी पर भी वही खरा उतरता है।

× × ×

निर्माण के लिए उपादान और निमित्त—दोनों का योग होना चाहिए। उपादान मजबूत है, पर निमित्त का योग नहीं मिलता है तो जो निष्पत्ति आनी चाहिए वह नहीं आ पाती। इसी तरह उपादान के अभाव में कोरा निमित्त भी कुछ नहीं कर पाता।

—युवाचार्य महाश्रमण

जब तक हम तीन प्रकार के आवेश—क्रोध का आवेश, अहंकार का आवेश, लोभ का आवेश—कम करना नहीं जानते तब तक सामुदायिक जीवन की बात सोची नहीं जा सकती। क्रोध के सामने क्रोध करेंगे तो क्या क्रोध कम हो जाएगा? जब दूध में उफान आता है, चूल्हे में एक लकड़ी और डाल दें, तो क्या उफान मिट जाएगा? इसी प्रकार अहंकार के सामने अगर अहंकार आएगा तो वह कभी शांत नहीं होगा, वह अधिक फुफकारने लग जाएगा। जैसे एक व्यक्ति लोभ करता है, वैसे ही दूसरा भी लोभ करने लग जाए, तो क्या लोभ शांत हो पाएगा? कभी संभव नहीं है। शांत होने का एकमात्र उपाय है—आध्यात्मिक चेतना का विकास। जैसे-जैसे अध्यात्म-चेतना जागेगी, आवेश शांत होते चले जाएंगे।

एक ओर है आवेश की चेतना और दूसरी ओर है शांति की चेतना, उपशमन की चेतना। क्रोध का उपशमन, अहंकार का उपशमन और लोभ का उपशमन। उफनते दूध में पानी का छींटा दिया, उपशमन हो गया। यह पानी का छींटा है अध्यात्म की चेतना, धर्म की चेतना।

कठिनाई यह है कि आज बच्चों में न धर्म और अध्यात्म की चेतना को जगाने का प्रयत्न किया जाता है और न ही बड़े लोगों में उसके जागरण का प्रयत्न होता है। हम जानते भी नहीं हैं कि इन आवेशों का शमन कैसे किया जाए? हम शमन की पद्धति नहीं जानते। धर्म भी चलता है तो मात्र रूढ़ि के रूप में चलता है। मंदिर, मस्जिद, स्थानक आदि बने हुए हैं, उनमें चले आओ और रूढ़ क्रियाकांड कर लो, किंतु अपनी वृत्तियों को कैसे बदला जाए? कैसे इन आवेशों को कम किया जाए? इनका उपाय क्या है? यह बात न बताई जाती है और न ही इस बात को जानने का प्रयत्न किया जाता है।

एक उपाय है—विश्लेषण। संश्लेषण नहीं, विश्लेषण करें। क्रोध और चेतना को अलग-अलग कर दें। मिट्टी को अलग कर दें, सोने को अलग कर दें। छाछ को अलग कर दें, मक्खन को अलग कर दें। यदि हम यह विश्लेषण निरंतर करते रहें तो आवेश शांत हो सकते हैं। इस प्रक्रिया में दीर्घश्वास का वही काम है जो काम बिलौना करने का है। यदि छाछ को अलग करना है और नवनीत को अलग करना है तो बिलौने की प्रक्रिया अपनानी होगी।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

जैन भारती
सितम्बर 2005

प्रसंग

क्षमा-सदाचरण

सदाचरण यदि है तो चित्त में क्षमा के लिए संभावना हर समय बनी रहती है। क्षमाशील होना मानव स्वभाव का अंग हो और किसी भी तरह के ऊपरी या बाहरी प्रयत्नों की कोशिशें क्षीणतर होती जाएं, क्षमा की अर्थवत्ता तभी प्रतिष्ठित हो सकती है। इसके लिए सदाचरण की वृत्ति परमावश्यक है। हम सभी जानते हैं कि आचरण में सदाशयता, शुद्धता और मृदुता आ जाने के बाद किसी अन्य बात की आवश्यकता शेष नहीं रह जाती। मानव-विकास और सभ्यता के सभी अवलंबनों में सदाचरण का स्थान प्रमुख माना जा सकता है।

सदाचरण की अपेक्षा सदैव समर्थ व्यक्ति से ही की जाती है। जो असहाय है, असमर्थ, अशक्त है उसके प्रति यदि समर्थ व्यक्ति सदाशयी हो, सद्व्यवहारी रहे तो अनेक तरह की विसंगतियों से मुक्ति मिल सकती है। क्षमा करने का वास्तविक कर्तव्य समर्थ का ही है। माना भी जाता है कि क्षमा करने के लिए तीव्र क्षमता की जरूरत है। गुसाईंजी ने कहा है—'समरथ को नहिं दोष गुसाईं'—कह कर उसे दोषमुक्त किया है तो यही सोचकर कि क्षमा का संपूर्ण दायित्व उसी के पेटे में आता है, क्योंकि वह समर्थ है। वह अपने कृत्य से कभी दोषी न ठहराया जाए, इसलिए उसे क्षमाशील होना चाहिए। गुसाईंजी की इस पंक्ति का जो चलताऊ अर्थ लिया जाता रहा है, हम उसे इस अर्थ में बदलकर अपनी भावनाओं को परिपुष्ट करेंगे तो गुसाईंजी की आत्मा को शांति मिलेगी। गुसाईंजी के प्रति यह हमारा सदाचरण कहलाएगा।

क्षमा और सदाचरण से टकराव जैसी सभी संभावनाएं क्षीण होती चली जाती हैं। टकराव का आम-कारण अहं होता है और अनेक बार वह निरा निरर्थक होता है। मन में पड़ने वाली कुत्सित गांठें घुलते देर नहीं लगती। घुन की तरह हमारे पवित्र भावों को ये चाट जाती हैं, हमें सपाट कर डालती हैं और भान तक नहीं हो पाता। समाज की जो दुरवस्था आज हमें नजर आती है, वह इसी कारण है। अपने समाज को इससे मुक्त करने के उपाय क्या हो सकते हैं—इस पर विचार होना चाहिए।

हम जानते हैं कि यह समय नंगी होड़ और वीभत्स प्रतिस्पर्द्धा के दौर का है। यह प्रतिस्पर्द्धा भौतिक संसाधनों को पा लेने और उनके उपभोग-भर के लिए है। शीर्ष पर भी हमें नजारा यही नजर आता है। शासन का नायक 'जनक' नहीं बनना चाहता, 'भस्मासुर' बनना चाहता है। उसकी वृत्ति प्रतिपालक की नहीं, स्व-पोषण की है। इतिहास के पन्ने पलटें तो कमो-बेस ऐसी दुरवस्था हर युग में देखने को मिलेगी, पर हमारा वर्तमान

बहुत-से पायदानों पर कुछ अधिक ही बेमेल प्रतीत होने लगा है। इसीलिए असंतुलन की खाइयां चौड़ी हो रही हैं, फैल रही हैं। इसके मूल में कथित भौतिक विकास और विलासिता का बढ़ता जा रहा 'कबाड़' है। अंतहीन लालसा से इसकी जड़ें पोषित हो रही हैं। बौद्धिक विकास—खासकर विज्ञान और प्रौद्योगिकी इस दुरवस्था के आज अटल आधार बने दिखाई दे रहे हैं। इसे तोड़ने की नितांत जरूरत है।

बौद्धिक नैतिकता ही इसे तोड़ने का सबल अस्त्र हो सकती है। आज यही औजार भोथरा हो गया है। इसे 'पाण' देने की निहायत आवश्यकता है, जो धर्म और अध्यात्म से ही संभव है। हमारे नीतिकारों ने अधिकार और कर्तव्य, साधन और साध्य, अहंवाद और परार्थवाद, सुखवाद और उपयोगितावाद की जो विवेचनाएं की हैं, उन सबको फिर से खंगालने की आवश्यकता आ गई है। बौद्धिक नैतिकता, सदाचरण, वैयक्तिक स्वतंत्रता और सामाजिक उत्तरदायित्वों पर दुनिया-भर के नीतिकारों ने जो-कुछ कहा है, आज के भटकाव में वह रोशनी देने वाला सिद्ध हो सकता है। हमारे नीतिकार यह स्पष्ट मान्यता रखते हैं कि सदाचार से ही सत्योपलब्धि हो सकती है। इसी से नैतिक चेतना का विकास संभव है और यही नैतिक चेतना उन विषमताओं की जड़ों को खोखला करने में सहायक हो सकती है जो आज सब ओर परिव्याप्त है।

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि नैतिक चेतना का विकास व्यापक स्तर पर कैसे हो? इसका पाठ होता रहे, किसी को इसमें आपत्ति नहीं, पर पाठ-भर से आने वाले परिणाम कितने क्षीण और अल्पकाय होते हैं, हम सभी जानते हैं। परिणामों को दीर्घजीवी और स्थाई बनाने की आवश्यकता है। धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में प्रयोगधर्मिता के प्रादुर्भावक आचार्यश्री महाप्रज्ञजी इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं। वे कहते हैं—'चेतना तभी बदलती है, जब हमारा व्यवहार बदले।' अहिंसा और अपरिग्रह पर सर्वाधिक बल जैन धर्म देता आ रहा है। जैनाचार्य के रूप में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी निस्संकोच यह स्वीकार करते हैं कि इतना बल देने पर भी अहिंसा का विकास जितना होना चाहिए, उतना नहीं हुआ। हजारों वर्षों की लंबी परंपरा में इतने प्रयत्नों के बाद भी ऐसा क्यों नहीं हुआ? आचार्यश्री महाप्रज्ञजी इसका एक ही कारण मानते हैं, वे कहते हैं—'जीवन में अहिंसा उतरती है चेतना के बदल जाने पर, अपरिग्रह उतर सकता है चेतना के रूपांतरण हो जाने पर। जब तक यह परिवर्तन नहीं होता, अहिंसा और अपरिग्रह के विकास की संभावना नहीं हो सकती।' ध्यान और योग के माध्यम से यह विकास संभव है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी मानते हैं कि ध्यान करने वाले की चेतना, उसकी आस्था बदलेगी। वह सोचेगा कि उसमें असीम शक्तियां हैं। ध्यान के माध्यम से वह अपनी असीम शक्तियों को जाग्रत कर सकता है, अपनी दुर्बलताओं को मिटा सकता है।

ऐसे प्रयोग हमारे देश में धीरे-धीरे जमीन बना रहे हैं। वे लोग, जो विलासिता और भौतिक संसाधनों की बहुलता से उकता चुके हैं, उनका झुकाव इस ओर बढ़ रहा है। पर, मुख्य बात उन लोगों की है जो वंचित हैं और अभिशप्त जीवन जी रहे हैं। समस्या के दो छोर हैं और दोनों पर समान स्तर पर प्रयोग की आवश्यकता है। बेशक; अभिशप्त और वंचितों की प्राथमिकता उनसे भिन्न होगी जो धाये-धापे हैं।

अतः यह जरूरी है कि बड़े पैमाने पर सामाजिक परिवर्तन की सकारात्मक रणनीति बनाई जाए। रोजगार और नैतिक आधार एक ही धरातल पर आ टिकें तो अभिशप्त जीवन भी उपलब्धिदायक जीवन में बदल सकता है। यही बदलाव सदाचरण की सुदृढ़ आधार भूमि होगी। क्षमाशीलता का सहज वातावरण भी इसी से संभव है। हमारे शास्त्रों में क्षमाशीलता के लिए जो-कुछ कहा गया है उस पर हम अमल करें। प्रतिक्रमण सूत्र हो या ऋग्वेद, सभी ने क्षमाशीलता के लिए अभिप्रेरित किया है। कहा है—मेरी सबके साथ मित्रता है/किसी से वैर-शत्रुता नहीं/मैंने सब प्राणियों को क्षमा किया है/मुझे भी सब क्षमादान दें। यह भी कहा है—मेरी वाणी का उपयोग इस जगत के मंगल के लिए हो/सारे द्वेष भस्मीभूत हो जाएं/हमारे व्यवहार का यही सहयोग हो।

हर वर्ष आने वाला क्षमापना महापर्व इस बार कुछ ऐसी आधार भूमि बना सकेगा, यह अभीप्सा हर स्तर पर की जानी चाहिए। ये उन्नत संभावनाएं प्रकट हो रही हैं।

—शुभू पटवा

विमर्श

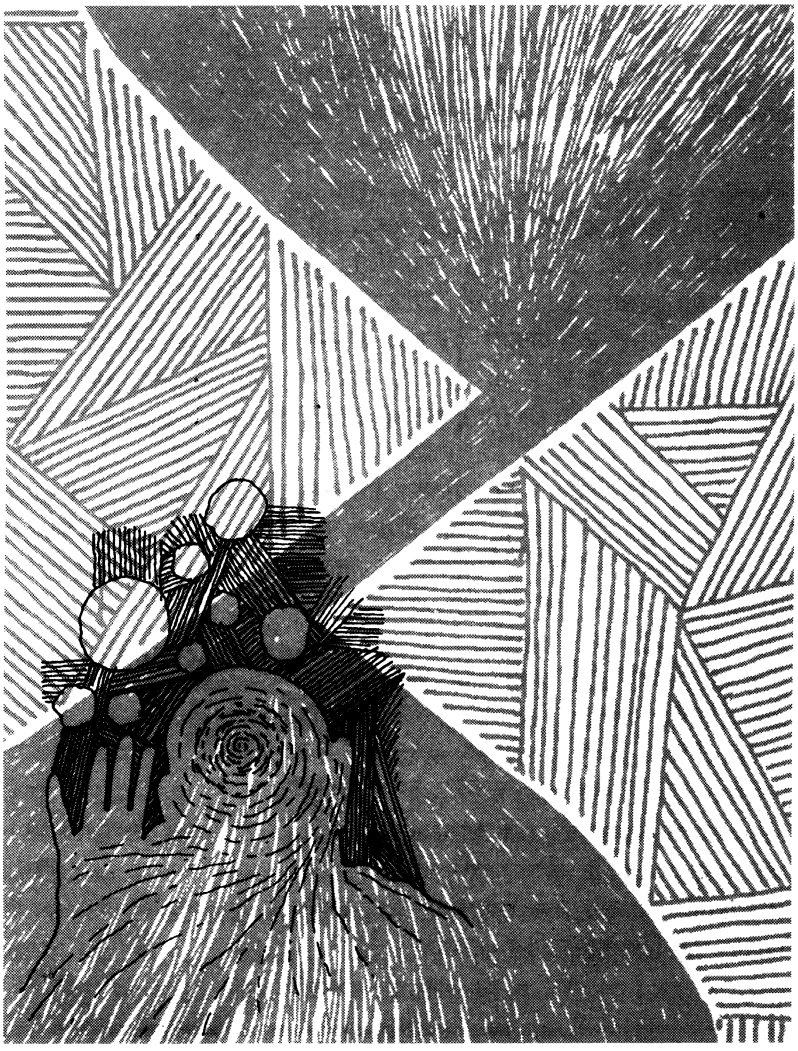

श्रेष्ठता एक ही प्रकार की नहीं होती और उसमें भी अनेक विविधताएं होती हैं, जैसे—मानव-योग्यताओं में श्रेष्ठता, ज्ञान की विभिन्न शाखाओं में श्रेष्ठता, उत्पादन प्रक्रियाओं में तथा विभिन्न सांस्कृतिक और कलात्मक स्वरूपों में श्रेष्ठता। एक अकेली मानव-योग्यता की अभिव्यक्ति भी अनेक प्रकार की श्रेष्ठताओं में हो सकती है। उंगलियों के उपयोग की दक्षता कढ़ाई, शल्य-चिकित्सा या संगीत में श्रेष्ठता ढूंढ़ सकती है। यदि हमारी प्रतिबद्धता समानता से है तो हम यही मानेंगे कि ये सब प्रकार की श्रेष्ठताएं मूलतः समान हैं। उस स्थिति में श्रेष्ठता का टकराव न तो समानता से होगा और न संख्यात्मक विस्तार से। परंतु, यदि हमारी प्रतिबद्धता विशिष्ट वर्ग से या असमानतावादी श्रेणीबद्ध समाज-संरचना से है तो हम श्रेष्ठता की संकीर्ण परिभाषा देंगे (जो अवश्य ही मनमानी परिभाषा होगी और गुणों पर आधारित न होकर विशेष प्रयोजन से दी जाएगी)। ऐसी स्थिति में हम अपने स्वार्थ-हित के आधार पर विभिन्न प्रकार की श्रेष्ठताओं को श्रेणीबद्ध करने का प्रयास करेंगे। हमें इन कमजोरियों से सजग रहना चाहिए और इसका ध्यान रखना चाहिए कि शासक वर्ग समानता को अपने प्रयोजन के लिए परिभाषित न करे।

—जे. पी. नाईक

इस समस्या का एक हल शायद यह है कि हम ज्ञान को कर्म का आनुषंगिक मानें, उसे साधन के रूप में समझें और जहां तक वह हमारे कर्म करने में सहायता देता है, वहां तक उसे स्वीकार करें। आजकल कई लोग ऐसा कहने लगे हैं, लेकिन अगर ऐसा है, तो कर्म के बारे में सोचना होगा और मनुष्य के कर्म के बारे में सोचना इससे भी अधिक मुश्किल है। कृष्ण ने तो गीता में यहां तक कहा है कि 'कवयोप्यत्र मोहिता'। कवि का अर्थ यहां 'कवि' से नहीं है, बल्कि उस अर्थ से है जिससे वेदों में कविर्मनीषी कहने की कोशिश की थी।

—❑—

❑ अनंत की प्राप्ति : अंतहीन प्रक्रिया ❑

❀ प्रो. दयाकृष्ण ❀

जमीन को लेकर झगड़े की बात सबको पता है और तोलने में बेईमानी करना या 'डंडी मारना' भी सभी को मालूम है, पर इन दोनों से उठने वाली समस्याओं पर बहुत ही कम सोचा गया है। आखिर जमीन को नापें तो कैसे नापें? और किसी चीज का वजन करें, तो कैसे करें? इन दोनों कामों के लिए हमें किसी ऐसी चीज की जरूरत होती है जिसके बारे में यह तय है कि इसका वजन या इसकी लंबाई बिल्कुल ठीक है।

पर, यह कैसे पता लगेगा कि किसी चीज का वजन या लंबाई बिल्कुल ठीक है। इसे जानने के लिए हमें किसी और वजन का सहारा लेना पड़ेगा या किसी दूसरी लंबी चीज का। और फिर यही सवाल उसके बारे में भी उठाया जाएगा और फिर उसी परेशानी का सामना करना पड़ेगा।

आमतौर पर इन परेशानियों का हल यह मानकर किया जाता है कि हम सब मिलकर किसी वजन या लंबाई की चीज को सबसे ज्यादा ठीक मानें। यही बात घड़ी के बारे में भी होती है। हम घड़ियां ठीक करते हैं और अपनी घड़ी ठीक घड़ी से मिलाते रहते हैं। लेकिन, असली घड़ी कौन-सी है? इसका जवाब आसान नहीं है। हां, घड़ी की बात करना और वजन की बात करना और लंबाई की बात करना कुछ अलग-अलग बातें हैं। हालांकि उनके बीच कुछ साम्य भी है।

हम जिस चीज का वजन जानना चाहते हैं तो उसे किसी दूसरी चीज से तोलते हैं और जब वो दोनों बराबर होती हैं तो हम कहते हैं कि पहली का वजन दूसरी जैसा ही है। इसमें दो चीजों की जरूरत होती है। यही बात लंबाई को तय करने में भी होती है। इसके लिए कोई 'गज' चाहिए, फीता चाहिए, जिसको लेकर हम कपड़ा मापते हैं, जमीन नापते हैं या कोई और चीज। दोनों को एक-दूसरे से मिलाते हैं, दोनों के सिरे मिल जाते हैं तो हम कहते हैं कि इसकी लंबाई इतनी है। घड़ी के बारे में यह बात कुछ अलग है। एक घड़ी को दूसरी के पास तो नहीं ले जाते, लेकिन हां, एक घड़ी को देखते जरूर हैं, फिर दूसरी को उससे मिलाते हैं।

घड़ी की बात बाद में करेंगे, पहले नापने पर ध्यान दें। अगर थोड़ी देर के लिए यह मान भी लें कि हमने इस चीज की लंबाई नाप ली है तो भी उससे हमें यह तो पता नहीं चलेगा कि आखिर वह चीज कितनी जगह घेरती है। अगर, जिसे चौड़ाई कहते हैं वो भी नाप लें, तो भी यह पता नहीं

यह सर्वमान्य बात है कि जिसके बारे में हम जानना चाहते हैं, उसके बारे में हमें पूरा ज्ञान नहीं है और शायद न कभी हो पाएगा— मनीषी-विचारक प्रो. दयाकृष्ण ने यह बात मानते हुए उन अनेक गुत्थियों को यहां प्रस्तुत किया है और कहा है कि अगर मनुष्य के कर्म के बारे में ही सोचना असली सोचना है तो आओ, फिर उसी के बारे में कुछ सोचें। इस आलेख की यह दूसरी और अंतिम किस्त—

चलेगा कि आखिर वह चीज कितना स्थान घेरती है। इसको तय करने के पहले यह मालूम करना होगा कि 'घेरने' का क्या मतलब है? घेरने का मतलब यही होगा कि जिस जगह के बारे में हम जानना चाहते हैं वो चारों तरफ से घिरी हो, चाहे दीवार से, या चाहे लकीर से, या किसी और चीज से। मतलब यह कि उसकी हद होनी चाहिए, जिसे सरहद भी कहते हैं। अब जब हमने जगह को चारों ओर से घेर लिया तो सवाल पैदा होता है कि यह जगह कितनी है और इसी को मालूम करने की विद्या का नाम अंग्रेजी में 'geometry' है।

'Geometry' हिसाब-किताब से भी अजीब है। क्योंकि किसी जगह को किस तरह घेरा जाए, चारों तरफ से बांधा जाए, इसका कोई एक तरीका नहीं है। आमतौर पर यह कहा जाता है कि कम-से-कम तीन लाइनें होनी चाहिए, जो एक-दूसरे से किसी-न-किसी जगह मिलती हैं। यह ठीक है, पर ये बातें यह मानकर चलती हैं कि लाइनें सीधी हों और इसीलिए लोग जब नापना होता है तो किसी रस्सी को सीधा बांधकर नापते हैं। लेकिन यह जरूरी नहीं है। आपकी लाइन हर क्षण मोड़ खा सकती है और कितना मोड़, यह तय नहीं। सिर्फ जरूरत इस बात की है कि वह घूम-घामकर वापस लौटे वहां, जहां से शुरू हुई थी, क्योंकि अगर वापस नहीं आती तो घेराबंदी नहीं होगी। यह बात इतनी अजीब नहीं है, क्योंकि जैसे किसी जगह को हम तीन लाइनों से घेर सकते हैं, वैसे चार या पांच लाइनों से भी घेर सकते हैं और इसी तरह अनगिनत लाइनों से और यही नहीं, गोल चक्कर से भी घेर सकते हैं।

लेकिन जितनी भी अनगिनत लाइनें हों, उन्हें हम सीधी मानकर चलते हैं। हां गोल चक्कर के बारे में ऐसा नहीं मानते कि उसकी लाइन सीधी है, क्योंकि अगर ऐसा मानें तो उसे गोल चक्कर कहने का कोई मतलब नहीं है।

पर सवाल तो यह है कि सीधे और टेढ़े का मतलब क्या है? क्या आंख से दिखने पर सीधा दिखना 'सीधा', व टेढ़ा दिखना 'टेढ़ा' है।

नापने और पता लगाने के लिए दो अलग-अलग बातों पर ध्यान देना जरूरी है, पर आमतौर पर एक साथ इसकी तरफ ध्यान नहीं दिया जाता। पहली यह कि वो जगह, जिसके बारे में आप जानना चाहते हैं, वो कैसी है? दूसरी ये कि उसको आप किससे, कैसे नापेंगे? जगह हजारों किस्म की हो सकती है। उसके बारे में फैसला करना हो कि वो कैसी है, तो यह तभी हो सकता है, जब हम पहले यह फैसला कर लें कि हम उसको अपनी आसानी के लिए एक तरह से ही देखें। ऊंची-नीची हो, टेढ़ी-मेढ़ी हो, गड्ढे हों, तो हम आमतौर पर इनको नजरअंदाज करने के लिए तैयार रहते हैं और जब नापने की बात आती है तो हमारे अपने पास नापने के जो यंत्र होते हैं, तरीके होते हैं, औजार होते हैं उन पर ही भरोसा करके चलते हैं, जिनमें तब्दीली होती रहती है। लेकिन कहते किसी से नहीं, क्योंकि काम चलाना है और जिससे चलता है उसी को परम सत मानकर चलते हैं।

यह बात घड़ियों के बारे में बिल्कुल साफ नजर आती है। काल को कैसे नापें? क्योंकि समय को नापना देश को नापने के समान नहीं है। देश या स्थान या जगह एक स्थान पर अपने-आप में स्थिर है, पर काल तो स्थिर नहीं होता, वह तो हर मिनिट बदलता है, उसको कैसे नापें?

काल को नापने की कहानी लंबी है और देश को नापने की कहानी से कहीं अधिक उलझी हुई है। आज करीब-करीब सब लोगों को यह पता है कि एक जगह रात होती है तो दूसरी जगह दिन होता है। जब एक जगह रात के 12 बजे होते हैं तो दूसरी जगह दोपहर के 4 बजते हैं। यही नहीं, जो लोग हवाई जहाज से सफर करते हैं और पेसिफिक महासागर के ऊपर उड़ान भरते हैं, उनको पता है कि एक जगह ऐसी आती है, जहां दिन बदल जाता है। घड़ियां ही नहीं, दिन भी बदल जाता है। उस लाइन के एक पार जाएं तो अगर मंगल है, तो बुध हो जाएगा, 4 तारीख है तो 5 हो जाएगी और अगर उसी लाइन से एक मिनिट बाद वापस आएं तो बुध का मंगल व 5 के 4 हो जाएंगे। इससे बड़ी अजीब बात क्या हो सकती है। उसे 'Date Line' कहते हैं। होता हर रोज है, हजारों-लाखों लोग इस लाइन के पार आते-जाते हैं और जो लोग हवाई जहाज से यात्रा करते हैं वो तो अपनी घड़ी ही ठीक करते रहते हैं और जो लोग बड़े-बड़े हवाई अड्डों पर थोड़ी देर के लिए रुकते हैं, वे सामने दीवारों पर लगी घड़ियों को देखते हैं, जो यह बताती हैं कि न्यूयार्क में, लंदन व टोकियो में क्या बजा है और इस पर न किसी को ताज्जुब, न अचंभा। ऐसा क्यों?

आदमी को एक तरह से तो किसी चीज पर अचंभा नहीं होता, अगर वह रोजमर्रा हो या बार-बार हो। लेकिन, एक छोटी-सी बात पर किसी ने कोई ध्यान नहीं दिया है और वो यह है, कि घड़ी को 'चलना' होता है। अगर घड़ी रुक जाए या चलना बंद हो जाए तो फिर वो नहीं बता

सकती कि समय क्या है। वक्त को नापने के लिए घड़ी का 'चलना' शायद इसलिए जरूरी है कि वह उस चीज को नापती है, जो स्वयं चलती है। काल का मतलब ही 'चलना' है या गतिमान होना है। जब, जो चीज जहां रुक जाती है, वहीं एक प्रकार से काल भी बंद हो जाता है।

दिल की धड़कन या नब्ज का चलना या सांस का रुकना—ये सब घड़ी के बंद होने की निशानी हैं, और लोग चाहें न चाहें, यह स्वीकार करते हैं कि अब सब-कुछ बंद हो गया है। जिंदगी की घड़ी भी क्या किसी को 'नापती' है?

जो भी हो, हमारे सामने समस्या वही रहती है। यह ठीक है कि काल को या समय को किसी ऐसी चीज से नापा जाता है, जो स्वयं चलती है। लेकिन, इस चलने की रफ्तार क्या है? वह तेज भी हो सकती है और धीरे भी। कितनी तेज या कितनी हल्की, इसका अंदाज लगाना मुश्किल है। आदमी धीरे-धीरे, खरामा-खरामा चहलकदमी करता हुआ टहलता है और हवाई जहाज 500 किलोमीटर प्रति घंटा की रफ्तार से तो आसानी से चलते हैं। वैसे आइंस्टाइन का कहना था कि सबसे ज्यादा रफ्तार रोशनी की होती है, जो करीब-करीब 1,86,000 मील प्रति सेकिंड चलती है। इससे ज्यादा रफ्तार क्यों नहीं हो सकती, इसका जवाब तो उन वैज्ञानिकों के पास होगा जो इस पर विश्वास करते हैं। हां, सोचने की बात यह है कि इससे ज्यादा रफ्तार 'सोची' जा सकती है, चाहे वह दुनिया के किसी कोने में या दुनिया की किसी चीज में पाई जाए या नहीं। दुनिया की 'असलियत' और हिसाब-किताब की दुनिया में यही फर्क है। जो-कुछ है, वह सीमित ही है, लेकिन गणित की संख्याएं उससे अधिक हमेशा हो सकती हैं।

यही बात कुछ-कुछ इस बारे में भी सच है कि क्या जिसे हम चलना कहते हैं, वह पूरी तरह बंद हो सकता है या रुक सकता है? वैज्ञानिक लोग ऐसा मानते हैं और कहते हैं कि जब तापमान सिफर से 238 डिग्री नीचे चला जाता है, तब एक तरह से जिसे चलना कहते हैं, गतिशील होना कहते हैं—वह बिल्कुल बंद हो जाता है।

ठंडे होने का मतलब यही है कि गतिशीलता कम होगी और गर्म होने का मतलब कि गतिशीलता बढ़ गई है। पर, यह भी अजीब है। एक तरफ जहां रफ्तार की सीमा है, वहीं वैज्ञानिक लोग मानते हैं कि यह बताना मुश्किल है कि अधिकतम से अधिक कम तापमान क्या होगा? सूर्य के अंदर तापमान कितना अधिक है, यह बताना आसान नहीं है और अगर तापमान का अधिक होना किसी चीज के गतिशील होने पर निर्भर है तो यह समझना मुश्किल है कि तापमान की ऊपरी सीमा नहीं है, तो गतिशीलता की कैसे होगी?

इससे अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि वैज्ञानिक जहां एक ओर मानते हैं कि एक हद पर पहुंचकर तापमान बिल्कुल वहां पहुंच जाता है, जहां गतिशीलता करीब-करीब बिल्कुल समाप्त हो जाती है। दूसरी ओर वे इसकी कोई ऊपरी सीमा मानने को तैयार नहीं हैं। ऐसा लगता है कि वैज्ञानिक लोग अजीब आदमी हैं। उनको यह पता नहीं कि वे कब क्या कहते हैं। यही नहीं, वे एक वो 'एसी' (movement) को भी मानते हैं, जो उनके अनुसार कहीं भी, कभी भी, बंद नहीं होती। उसे वे 'brownion movement' कहते हैं। इन सबका उनके पास जवाब जरूर होगा। आमतौर पर विज्ञान की किताबों में ऐसी बातें लिखी रहती हैं और लिखने वाले यह महसूस करते दिखाई नहीं देते कि वे जो कह रहे हैं, उनके कथन में इतना गहरा अंतर क्यों है?

एक ओर जहां किसी भी सीमित प्रदेश के बारे में यह समस्या उठती है कि उसमें जो घिरा हुआ प्रदेश है, उसको कैसे नापा जाए? वहीं दूसरी ओर एक और समस्या उठती है कि अगर हमारे सामने अलग-अलग दो सीमित प्रदेश हों तो उन प्रदेशों की जमीन एक-दूसरे से ज्यादा होगी, या कम, या बराबर? लेकिन, यह बात हर जगह तो आसानी से लागू नहीं की जा सकती। एक जगह को उठाकर, दूसरी जगह कैसे ले जाएंगे, और अगर जिस चीज से भी एक जगह को नापेंगे, उसी चीज से दूसरी जगह को भी नापना होगा। इसमें भी यह मानकर चलना पड़ता है कि कुछ चीजें ऐसी हैं, जिन्हें हम उठाकर नहीं ले जा सकते और कुछ को उठाकर ले जा सकते हैं। अब उठाकर ले जाने वाली चीजों व उनको, जिन्हें उठा नहीं सकते—क्या फर्क है और फिर हमारे पास यह मानने के लिए क्या आधार है कि किसी चीज को ले जाने से उस चीज में कोई फर्क नहीं पड़ता है? कम-से-कम आइंस्टाइन के बाद, जिसे आज का विज्ञान स्वीकार नहीं करता।

इससे भी पेचीदा सवाल तो यह है कि क्या काल की गति वस्तुओं पर कोई प्रभाव नहीं डालती? क्या चीजें जैसी हैं वैसी ही रहती हैं? चाहे कितना ही समय बीत जाए, अगर ध्यान से देखें तो हमारा अनुभव इससे उल्टी बात

बताता है। दुनिया की कोई ऐसी चीज नहीं है, जो एक-सी बनी रहती है। होता यह है कि आप चाहें-न-चाहें, चीजों में परिवर्तन आता रहता है और अगर ऐसा है, तो फिर जिस बात को मानकर चले थे कि किसी चीज को एक जगह से दूसरी जगह ले जाने में कोई तब्दीली नहीं आती—वह असंभव है। यह दूसरी बात है कि जो भी तब्दीली आती है, उसे हम नजरअंदाज करते हैं, क्योंकि उससे कोई खास फर्क होता दिखाई नहीं पड़ता। हां, किसी चीज को ले जाने में समय लगता है, वो साफ दिखाई देता है। परं, अगर कोई चीज जहां है, वहीं रहे, तो हमें ऐसा नहीं लगता कि समय का उससे कोई संबंध है। चीज में परिवर्तन तो आता है, लेकिन इतना कम कि उसको देखने में मुश्किल आती है। पर, इस संदर्भ में भी एक ऐसा भेद है जिसकी ओर जब ध्यान देते हैं तो ऐसा लगता है कि काल का संबंध चीजों से एक-सा नहीं है। जहां भी प्राण है, जीवन है, वहां काल की गति आंतरिक लगती है, क्योंकि कुछ करो या ना करो, परिवर्तन अपने-आप होता ही नहीं रहता, साफ दिखाई भी पड़ता है। इसके विपरीत जहां प्राण नहीं है, जीवन नहीं है, वहां बरसों गुजर जाए तो बहुत कम दिखाई देता है। जानवर मरते हैं, पेड़-पौधे सूखते हैं, पर पत्थर वैसे के वैसे ही रहते दिखाई देते हैं। सूरज और चांद और अन्य ग्रह व उपग्रहों में हजारों-लाखों साल बीतने पर भी कोई खास फर्क नहीं पड़ता। पर, होता जरूर होगा, दिखाई नहीं देता।

अगर ऐसा है तो फिर उन चीजों को ही नापा जा सकता है जिनमें आंतरिक तब्दीली कम-से-कम होती है और जहां वह जितनी ज्यादा होती है, उतना ही कम नापा-तोला जा सकता है।

लेकिन, यह बात विज्ञान को स्वीकार नहीं है। क्योंकि वह यह मानकर चलता है कि घड़ी सब काल को एक ही तरह से नापती है। पर, अगर ऐसा नहीं है तो कहीं एक भयंकर भूल है, क्योंकि वह काल को देश की तरह ही देखती है।

गणित को ज्ञान का सर्वोत्कृष्ट रूप माना जाता है। शुरू से ही, सब लोग यह मानते हैं कि यह ऐसा ज्ञान है जो सब जगह, सब देश-काल में एक-सा रहता है, जिसकी सच्चाई के बारे में कभी कोई शक हो ही नहीं सकता। पर, एक ओर तो गणित के ज्ञान में तब्दीली और वृद्धि, दोनों बराबर होती रहती हैं और दूसरी ओर उसके बारे में जरा-सा सोचने पर अनेक ऐसी समस्याएं उठती हैं, जिनका कोई आसान हल दिखाई नहीं देता। ज्ञान के और क्षेत्रों में तो यह बात इस तरह समझी जाती है कि हम जिसके बारे में जानने की कोशिश करते हैं, उसके बारे में हमें पूरा ज्ञान नहीं है और शायद न कभी हो सकता है। पर, गणित के बारे में भी अगर ऐसा है तो फिर आदमी की ज्ञान-संबंधी परेशानियों का इलाज शायद कभी भी नहीं हो पाएगा। ऐसा लगता है कि आदमी की अक्ल में ही—जिससे वह सब-कुछ जानने की कोशिश करता है, उसमें ही कोई गहरा खोट है या कमी है। यह मानने पर परेशानी और भी बढ़ती ही है, घटती नहीं। जानने की मजबूरी है और हमारे पास जो जानने का एकमात्र साधन है, वह उस काम के लिए शायद उपयुक्त ही नहीं है, जो उसे करना पड़ता है।

इस समस्या का एक हल शायद यह है कि हम ज्ञान को कर्म का आनुषंगिक मानें, उसे साधन के रूप में समझें और जहां तक वह हमारे कर्म करने में सहायता देता है, वहां तक उसे स्वीकार करें। आजकल कई लोग ऐसा कहने लगे हैं, लेकिन अगर ऐसा है, तो कर्म के बारे में सोचना होगा और मनुष्य के कर्म के बारे में सोचना इससे भी अधिक मुश्किल है। कृष्ण ने तो गीता में यहां तक कहा है कि 'कवयोप्यत्र मोहिता'। कवि का अर्थ यहां 'कवि' से नहीं है, बल्कि उस अर्थ से है जिससे वेदों में कविर्मनीषी कहने की कोशिश की थी।

लेकिन, शायद गीता में जो कहा गया है उसका अर्थ ठीक-ठीक नहीं समझा गया। कृष्ण ने मोह शब्द का प्रयोग किया है और यह बताने की कोशिश की है कि कर्म के संबंध में चिंतन करते समय मोह से छुटकारा पाना अधिक मुश्किल है। ज्ञान के संदर्भ में भी मोह से छुटकारा पाना आसान नहीं होता, परंतु यहां तो नामुमकिन-सा ही लगता है, लेकिन फिर भी कोशिश तो की ही जा सकती है और अगर मनुष्य के कर्म के बारे में सोचना ही असली सोचना है तो फिर आओ, उसी के बारे में कुछ सोचें! ❖

जब जीवन और चेतना का स्तर बहुत ऊंचा उठ जाता है, हमारे धर्म और कर्म विषयक विचार स्वार्थ-रहित हो जाते हैं और यदि आत्म-सम्मान से संबद्ध काम करने की आदतें बन चुकी होती हैं, तो आत्म-संयम या आत्म-नियंत्रण का सामर्थ्य व्यक्ति में अत्यधिक बढ़ जाता है। यह अवस्था चरित्र के उच्चतम विकास की है।

—हंसराज भाटिया

भारतीय धर्मों में एकाधिकृत पूजा का स्थान नहीं है। उनका आशय तो बहुत हद तक यही है कि प्रत्यक्षतः विरोधी, किंतु वास्तव में पूरक, सत्यों को साथ-साथ समझने का प्रयत्न न करके हम गलती करते हैं। निषिद्धियां और धर्मोन्मत्त अस्वीकृतियां ही नास्तिकता का कारण हैं। सत्य केवल एक है, और सत्य को निश्चित रूप से जानने वाले सभी व्यक्ति उससे प्रभावित होते हैं। यहां हम विशेष दृष्टिकोणों से परे हट जाते हैं। भारतीय धार्मिक परंपरा एक सत्य को माननेवाले प्रत्येक रूप को स्वीकार करती है। सत्य-केंद्रित व्यक्ति धार्मिक विवाद में नहीं पड़ते। इस आदर्श को मानने पर धार्मिक असहिष्णुता का, जो आत्मा की जन्मजात विरोधिनी है, कोई स्थान नहीं रह जाता। धर्म जब संगठित हो जाता है, व्यक्ति की स्वाधीनता जाती रहती है। तब ईश्वर की नहीं, बल्कि उसके प्रतिनिधित्व का दम भरनेवाले समूह या अधिकारी की पूजा होती है। तब सचाई का खंडन नहीं, वरन अधिकारी की अवज्ञा ही पाप बन जाती है।

—❑—

❑ सत्य पर अवलंबित भारतीय धार्मिक परंपरा ❑

❀ डॉ. एस. राधाकृष्णन ❀

यदि धार्मिक सिद्धांतों के अनुसार आचरण को ही अंतिम परीक्षा समझ लिया जाए, तो विभिन्न मतानुयायी परस्पर बिल्कुल अनजान मालूम पड़ेंगे; यदि जीवन की विधि पर ध्यान दिया जाए तो धर्मानुयायी व्यक्ति परस्पर समान मालूम पड़ेंगे। हमारा धर्म ही सत्य का प्रतिनिधि है और इसे न मानने वाले काफिर हैं, जिनका विनाश आवश्यक है—यह दृष्टिकोण घातक है।

5 सितंबर जन्म जयंती पर विशेष

गोचर एवं समझ में आ सकनेवाली वस्तुओं के बारे में हमारा ज्ञान अभी प्रयोगावस्था में और अपूर्ण है, फिर भी ईश्वर के स्वभाव और संसार के साथ उसके संबंध के बारे में हमें इतना विश्वास हो—यह आश्चर्य की ही तो बात है! केवल हमारा धर्मग्रंथ या हमारी संस्था दोषरहित, निर्भ्रांत और दैवी है तथा ईश्वरीय शिक्षा और कृपा की व्याख्या करने व उन्हें प्रदान करने में समर्थ है—इस प्रकार के तर्क बहुत हद तक हठपूर्ण ही हैं।

ऋग्वेदकाल से लेकर आज तक भारत में विभिन्न धर्म पनपते रहे हैं और भारतीय दर्शन में सभी के प्रति 'जीओ और जीने दो' के सिद्धांत का पालन किया जाता रहा है। 19 अक्टूबर, 1951 को पारित भारतीय कांग्रेस के प्रस्ताव में कहा गया है : 'अपने जन्मकाल से ही कांग्रेस का उद्देश्य और घोषित नीति यही रही है कि एक धर्मनिरपेक्ष प्रजातंत्रीय राज्य की स्थापना हो, जिसमें सभी धर्मों के प्रति आदर हो, किंतु किसी भी धर्म या जाति के प्रति पक्षपात न हो और राष्ट्र को बनानेवाली सभी जातियों अथवा व्यक्तियों को समानाधिकार और अवसर की स्वतंत्रता मिले। भारत गणराज्य का विधान इसी आधारभूत सिद्धांत पर आधृत है।'

सभी धर्म एक आध्यात्मिक प्रकाश की प्राप्ति में हमारे सहायक हैं। हमें अनेक रास्ते दिखलाई पड़ते हैं, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि वे विभिन्न लक्ष्यों तक ले जाते हैं। हो सकता है कि कुछ गज या कुछ मील के बाद आपस में मिलकर कंकरीट की एक सड़क बना लें, जो सिद्धि तक जाती हो।

भारतीय धर्मों में एकाधिकृत पूजा का स्थान नहीं है। उनका आशय तो बहुत हद तक यही है कि प्रत्यक्षतः

विरोधी, किंतु वास्तव में पूरक, सत्यों को साथ-साथ समझने का प्रयत्न न करके हम गलती करते हैं। निषिद्धियां और धर्मोन्मत्त अस्वीकृतियां ही नास्तिकता का कारण हैं। सत्य केवल एक है, और सत्य को निश्चित रूप से जानने वाले सभी व्यक्ति उससे प्रभावित होते हैं। यहां हम विशेष दृष्टिकोणों से परे हट जाते हैं। भारतीय धार्मिक परंपरा एक सत्य को माननेवाले प्रत्येक रूप को स्वीकार करती है। सत्य-केंद्रित व्यक्ति धार्मिक विवाद में नहीं पड़ते। इस आदर्श को मानने पर धार्मिक असहिष्णुता का; जो आत्मा की जन्मजात विरोधिनी है, कोई स्थान नहीं रह जाता। धर्म जब संगठित हो जाता है, व्यक्ति की स्वाधीनता जाती रहती है। तब ईश्वर की नहीं, बल्कि उसके प्रतिनिधित्व का दम भरनेवाले समूह या अधिकारी की पूजा होती है। तब सचाई का खंडन नहीं, वरन् अधिकारी की अवज्ञा ही पाप बन जाती है।

यूरोपीय धार्मिक इतिहास के ज्ञाता चीन और भारत की इस आश्चर्यजनक दृष्टि को समझ नहीं पाते कि वहां सांप्रदायिक अंतरों का उतना महत्त्व नहीं है, जितना पश्चिम में। किसी वैष्णव को कभी नहीं सूझेगा कि उसका पड़ोसी शैव नास्तिक है, जिसे अनंत नरकवास ही मिलेगा। ये देवता तो परमेश्वर के विभिन्न रूपों को दर्शाते हैं। ईसा की आरंभिक शताब्दियों में अनेक चीनी यात्री भारत आए थे। उनके वर्णनों से हमें पता लगता है कि विभिन्न मतानुयायी एक साथ बैठकर आत्मा और परमात्मा के प्रश्न पर चर्चा किया करते थे और विभिन्न धर्मावलंबी शिक्षक विश्वविद्यालयों में अध्यापन करते थे। संपूर्ण मानव-जाति की आत्मा का एकमात्र उद्देश्य है; अलग-अलग लोग अलग-अलग ढंग से उसे प्राप्त करना चाहते हैं। भारत में बहुत पहले से अल्पसंख्यक यहूदी, सीरियाई ईसाई और पारसी मौजूद हैं—यह इस तथ्य का प्रमाण है कि भारत में धार्मिक सहिष्णुता की भावना लगातार कायम है।

इसका अर्थ यह नहीं कि विकास को प्रोत्साहन नहीं मिलता। प्रत्येक परंपरागत सिद्धांत विभिन्न खंडों से बना एक आकार है और इसमें परिवर्तन आंतरिक विकास के कारण होते हैं, बाहर से लादे नहीं जाते। विभिन्न मत शताब्दियों की वृद्धि के परिणाम हैं और नैतिक आदर्शों द्वारा निर्मित जातीय गुणों की मिट्टी में उनकी जड़ें हैं। आकस्मिक परिवर्तनों का परिणाम भयानक हो सकता है, किंतु दूसरे धार्मिक दृष्टिकोणों का प्रभाव एक प्रकार के 'खमीर' का काम करके स्वाभाविक परिवर्तन पैदा करता है। गायत्री मंत्र में निर्देशित है कि बाह्य रूपों को भेदकर उन रूपों द्वारा इंगित बोध तक पहुंचने का सतत प्रयास प्रत्येक व्यक्ति को करना चाहिए। बाह्य रूपों से संतुष्टि ही धार्मिक जीवन का सबसे बड़ा दोष है। आज, जब विभिन्न धर्म आमने-सामने हैं, पूर्वीय दृष्टिकोण इसी बात पर जोर देगा कि एक धर्म का स्थान दूसरे द्वारा ग्रहण किया जाना आवश्यक नहीं है। यदि हम आध्यात्मिक यथार्थ और ऐतिहासिक परंपरा में विभेद कर सकें तो हमें स्वीकार करना होगा कि मानवता के आध्यात्मिक जीवन के पोषण के लिए विभिन्न धर्म सद्भावनापूर्वक कार्य कर सकते हैं।

सरकार और अपनी शिक्षा-संस्थाओं की सहायता से भारत पर अपनी संस्कृति थोपने के पश्चिमी शक्तियों के प्रयत्नों ने भारतीय जनता की निश्चलता को भंग किया और भारतीय समाज की सतह को आंदोलित किया, किंतु गहराई में पैठी भारत की दीर्घकालीन परंपरा पर अधिक प्रभाव नहीं पड़ा। सतह पर होने वाली हलचलों को मुख्य आकार का टूटना नहीं समझा जा सकता।

संपूर्ण भारत में सार्वभौम धर्म का पुनरुत्थान हुआ है, इनमें हिंदू धर्म की सिद्धांतत्रई—'प्रस्थान-त्रय' का निर्माण करने वाले उपनिषद्, भगवद्गीता और ब्रह्मसूत्र सम्मिलित हैं। राममोहन राय (1774-1833) ने प्रचलित रूढ़ हिंदू धर्म के सुधार की प्रेरणा उपनिषदों में पाई। दयानंद सरस्वती को जाति-प्रथा और अस्पृश्यता से मुक्त आदर्श आर्यसमाज का प्रमाण ऋग्वेद के श्लोकों में मिला। श्रीमती एनीबेसेंट के नेतृत्व में थियोसोफिकल सोसायटी ने हिंदू धर्म को एक प्रगतिशील और सार्वभौम प्रकृति प्रदान की। रामकृष्ण आंदोलन ने, जिसके अनुयायियों की संख्या लाखों में है, हिंदू धर्म के आध्यात्मिक एवं सामाजिक पक्ष पर जोर दिया। रामकृष्ण ने विभिन्न धार्मिक मतों का गहन अध्ययन किया और उनकी आंतरिक एकता व आध्यात्मिक अनुरूपता को उजागर किया। बाल गंगाधर तिलक, श्री अरविंद और महात्मा गांधी ने एक पुनरुज्जीवित भारतीय समाज की स्थापना के लिए भगवद्गीता का सहारा लिया।

इन शताब्दियों के दौरान भारत के निवासियों ने एक संस्कृति का विकास किया है और उसे निरंतर कायम रखा है। यह कोई जड़ विचारधारा नहीं, बल्कि एक जीवित प्रक्रिया है, जो परिवर्तनशील परिस्थितियों के अनुसार स्वयं को ढालते हुए अधिक-से-अधिक समृद्ध होती गई है।

विभिन्न जातियों के, विभिन्न भाषा-भाषी तथा अलग संस्कृतियों के लोग भारतीय धरती पर मिले हैं और समय-समय पर हुए संघर्षों के बावजूद एक ही सभ्यता के सदस्यों के रूप में रहने लगे हैं—ऐसी सभ्यता, जिसके प्रमुख गुण हैं : सभी जीवधारियों में व्यक्त एक 'अदृश्य वास्तविकता' के प्रति आस्था, आध्यात्मिक अनुभव का महत्त्व, संस्कारों और सिद्धांतों की सापेक्षता, बौद्धिक आदर्शों के प्रति रूढ़ अवलंबन और प्रत्यक्ष विरोधों को सम करने की आतुरता। उनके आदर्शों को अंधविश्वास नहीं, बल्कि जीवंत सत्य समझा जाता है जो संपूर्ण मानवता की आध्यात्मिक आवश्यकताओं को पूरा कर सकता है। बहुत पुराने समय से, यहां तक कि सुमेर काल से, शायद ही कोई धर्म या संप्रदाय, आशा या स्वप्न ऐसा हो जिसे भारत ने स्वीकार न किया हो; फिर भी भारत की आत्मा अपरिवर्तित है। गांधीजी ने 'यंग इंडिया' में लिखा था : 'मैं नहीं चाहता कि मेरे घर के चारों ओर एक दीवार उठा दी जाए और खिड़कियों को बंद कर दिया जाए। मैं चाहता हूं कि यथासंभव स्वतंत्रतापूर्वक सभी देशों की संस्कृतियां मेरे घर के चारों ओर मंडराती रहें। लेकिन यह निश्चित है कि कोई भी संस्कृति मेरे पांव नहीं उखाड़ सकेगी।' दूसरी संस्कृतियों ने भारत को प्रभावित किया है, पराजित नहीं।

यूरोप के समान, भारत की अखंडता क्षेत्रीय-राष्ट्रीय आंदोलनों में नहीं बदली है और हर अलग भाषा वाले क्षेत्र में स्वतंत्र राजनीतिक इकाइयां नहीं बन पाई हैं। इसका कारण है एक प्राचीन संस्कृति की सुदृढ़ता और बाहरी—ईसा की आठवीं शताब्दी से मुसलमान और अठारहवीं शताब्दी के बाद यूरोपीय—प्रभाव।

भारत ही अकेला देश है जहां मंदिरों, गिरजों और मस्जिदों का शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व है। मैं स्वयं हिंदू मंदिरों, यहूदियों की प्रार्थना-सभाओं, बौद्ध मठों, ईसाई गिरजों और मुसलमान मस्जिदों में भाषण दे चुका हूं और न तो मैंने अपनी बौद्धिक जागरूकता के साथ कोई समझौता किया है और न अपने आध्यात्मिक विश्वासों को ठेस पहुंचने दी है। पक्षपातहीन विवेक की प्रवृत्ति भारत की धार्मिक परंपरा में व्याप्त है।

अनेक महान आत्माओं के प्रयत्नों से भारतीय संस्कृति का निर्माण हुआ है—उनकी पीड़ाओं से ढांचा ऊपर उठा और रक्त निर्मित हुआ है। शताब्दियां बीतने के साथ-साथ उसमें मिट्टी का रंग मिल गया है। अपनी लंबी वृद्धि के सारे घाव और धब्बे उस पर मौजूद हैं। यह आकर्षक भी है और विकर्षक भी, अपने विरोधाभासों से हमें चौंका देती है और अविनाशी जीवनी-शक्ति से मोह लेती है। भारत ने देखा है कि उसकी समकालीन संस्कृतियां अपनी अगली पीढ़ी की संस्कृतियों को जगह देकर विलीन हो गईं, फिर कुछ नवीन संस्कृतियां भी लुप्त हो गईं, किंतु भारतीय संस्कृति फिर भी जीवित है। उसकी आत्मा के दीपक की लौ कांपी तो थी, किंतु बुझी कभी नहीं।

मानवीय विचारधारा निर्मल सरिता नहीं है; साधारणतः उसमें खूब मिट्टी मिली होती है और आज भारत में काफी मिट्टी जम गई है, जिसे हटाना आवश्यक है। अंधविश्वास खूब फैला है। आज भी बहुत लोग भूत-प्रेतों में विश्वास करते हैं। यहां तक कि शिक्षित भारतीय भी अपनी संस्कृति की प्रवृत्ति को, उसकी उपलब्धियों और संभावनाओं को नहीं समझते। व्यवसायगत अंतरों ने रूढ़ जातियों का रूप ग्रहण कर लिया है। सात्त्विक विचारोंवाले व्यक्ति अस्पृश्यता को अपराध और कुप्रवृत्ति मानते हैं। अनेक सामाजिक रीति-रिवाज कायम हैं, हालांकि उनसे जीवन का प्रवाह रुक गया है। लेकिन ये दोष भीतरी नहीं हैं। भारत के आदर्शों के साथ इनका कोई साम्य नहीं है। भारत आज तभी जीवित रह सकता है जब वह अपने आदर्शों का प्रतिनिधित्व न करनेवाली संस्थाओं को पूजना बंद कर दे। अनेक संस्थाएं तो अहल्या—कभी जीवित प्राणी की पाषाण-प्रतिमा—बनकर रह गई हैं। आत्मा के संस्पर्श से पाषाणों को पुनः जीवन प्रदान किया जा सकता है। आज आवश्यकता है कि भारत अपनी ही प्रवृत्तियों को दांव पर लगा दे। ❖

जो गुणवान, ज्ञानी और मंगलकारी पुत्र पिता और विशेषकर माता; की मन, वचन और कर्म से सेवा करता है, वह वास्तव में प्रतिदिन गंगा के स्नान का फल प्राप्त करता है और जो पुत्र इससे विपरीत आचरण करता है, निस्संदेह वह महापापी है।

—पद्मपुराण (2/50/19/20)

इस बात पर ध्यान दीजिए कि धर्म से कुछ लाभ है। हां है तो। इससे मनुष्य को अनंत जीवन का लाभ होता है। इसने मनुष्य को इस दशा पर पहुंचाया है और यही उसे मनुष्य से देवता बना देगा। यही धर्म कर सकता है। धर्म को मनुष्य-समाज से अलग कर दीजिए, फिर वह रह क्या जाएगा? केवल पशुओं का झुंड। इंद्रियों का सुख मनुष्यता का लक्ष्य नहीं है, ज्ञान ही सारे जीवन का लक्ष्य है। हम देखते हैं कि मनुष्य को बुद्धि से उतना अधिक सुख मिलता है जितना पशुओं को इंद्रियों से नहीं मिलता। हम देखते हैं कि उसे अध्यात्म से जो आनंद मिलता है, वह बुद्धि से भी नहीं मिलता। अतः अध्यात्मज्ञान सर्वोत्कृष्ट ज्ञान है। इसी ज्ञान से आनंद उत्पन्न होता है।

—❑—

❑ अध्यात्म : सर्वोत्कृष्ट ज्ञान ❑

❀ स्वामी विवेकानंद ❀

हमारा विश्व, इंद्रिय, ज्ञान और बुद्धि का विश्व दोनों ओर से अप्रमेय और अज्ञेय से सीमाबद्ध है। इसी के भीतर अन्वेषण है, इसी में जिज्ञासा है, इसी में तत्त्व है और इसी से वह प्रकाश उत्पन्न होता है जो संसार में धर्म के नाम से प्रख्यात है। तत्त्वतः धर्म इंद्रियातीत है, इंद्रियों का विषय नहीं है। यह तर्क से भी परे है, बुद्धि का विषय नहीं है। यह आभास, अवभास, अज्ञात और अज्ञेय में निमग्न होकर अज्ञेय को अतिज्ञेय करता है; कारण यह है कि यह 'ज्ञान' में आ नहीं सकता। यह खोज मनुष्य के अंतःकरण में, और मैं जानता हूं कि मनुष्यों के आदि में, उत्पन्न हुई। संसार के इतिहास के किसी काल में कोई मानव-तर्क और बुद्धि ऐसी थी ही नहीं जिसमें यह उलझन और अलौकिक जिज्ञासा न उत्पन्न हुई हो। अपने इस छोटे विश्व में, इस मानव-अंतःकरण में हम देखते हैं कि एक विचार उत्पन्न होता है। यह कहां से उत्पन्न होता है, हमें पता नहीं; और जब यह लुप्त होता है तब कहां जाता है, हमें इसका भी ज्ञान नहीं। स्थूल और सूक्ष्म जगत मानों एक ही आकार के हैं; उनमें एक ही परदा बदलता और एक ही राग बजता है।

धर्म बाहर से नहीं उत्पन्न होता, अपितु भीतर से निकलता है। मेरी यह धारणा है कि धर्म मनुष्य की प्रकृति ही है; यहां तक कि जब तक वह अपने मन और शरीर को न छोड़े, अपने विचार और जीवन को न त्यागे, धर्म का छोड़ना असंभव है। जब तक मनुष्य में विचारने की शक्ति है, तब तक मनुष्य को किसी-न-किसी रूप में धर्म रखना ही पड़ेगा। यह भूलभुलैया-सी बात है। पर, जैसा कि हम में से बहुतेरे समझते हैं, यह असार विचार नहीं है। इस अव्यवस्था में व्यवस्था है, इस बेताली ध्वनि में ताल-स्वर हैं; और जो इसे सुनना चाहे, स्वर को ग्रहण कर सकता है।

शिकागो (अमेरिका) में संपन्न विश्व धर्म संसद में स्वामी विवेकानंद ने जब यह कहा कि—हर एक व्यक्ति दूसरे धर्म की बातों को अपने में पचाए, साथ ही अपना व्यक्तित्व कायम रखे और विकास के नियमानुसार बढ़े—तो विश्व को यह समझते देर नहीं लगी कि भारतीय धर्म-दर्शन की उदारता बेमिसाल है, साथ ही यह भी समझ आया कि भारतीय मानस अपनी अस्मिता के लिए भी उतना ही प्रतिबद्ध है। एक सौ बारह वर्ष पूर्व सन् 1893 (11 सितंबर) में स्वामी विवेकानंद ने शिकागो विश्व धर्म संसद को संबोधित किया था। अक्सर विशेष का स्मरण करते हुए जैन भारती के पाठकों के लिए यह आलेख—

मान लीजिए कि यह ज्ञात और ज्ञेय, दोनों, ओर से अज्ञेय और अतीव अज्ञात से संपुटित है, तो फिर उस

अत्यंत अज्ञात के लिए यह श्रम क्यों है? हम ज्ञेय ही से संतुष्ट क्यों न रहें? हम खाने-पीने और समाज का कुछ थोड़ा-सा उपकार करने पर ही संतोष क्यों न धारण करें? इस बात की हवा फैली हुई है। बड़े-बड़े विद्वान अध्यापक से लेकर बकवादी बच्चों तक सब यही कहा करते हैं कि संसार में भलाई करो; यही सबसे बड़ा धर्म है और इससे परे के प्रश्न पर माथा खपाना व्यर्थ है। दशा ऐसी हो गई है कि यह सर्वतंत्र सिद्धांत हो रहा है। पर सौभाग्यवश हम इसके परे की जिज्ञासा अवश्य करेंगे। यह उपस्थित, यह व्यक्त उस अव्यक्त की एक कला मात्र है। यह इंद्रियगम्य जगत उस अनंत आध्यात्मिक विश्व का एक अंश वा अणुमात्र है जो निकलकर बोधावस्था को प्राप्त हो गया है। भला, जो यह छोटा अंश निकल पड़ा, वह तब तक समझ में कैसे आ सकता है जब तक उसका बोध न हो जो इससे परे है?

कहते हैं कि सुकरात एथेंस में व्याख्यान दे रहा था। उसे एक ब्राह्मण मिला जो यूनान में यात्रा करने गया था। सुकरात ने ब्राह्मण से कहा कि मनुष्य के लिए सबसे अधिक जानने योग्य मनुष्य ही है। ब्राह्मण ने उसी समय खंडन कर दिया और कहा—भला ईश्वर को जाने बिना मनुष्य को आप कैसे जान सकते हैं? वह ईश्वर सदा अज्ञेय, केवल, अनंत वा अनाम है; वही सब ज्ञात और ज्ञेय इस जीवन की एकमात्र व्याख्या है। अपने आगे के किसी पदार्थ को ले लीजिए जो अत्यंत स्थूल वा भौतिक हो। अत्यंत भौतिक विज्ञान को ही लीजिए; जैसे रसायन, भौतिकी, ज्योतिष वा प्राणिशास्त्र। उनका अभ्यास कीजिए। अभ्यास बढ़ाते जाइए, स्थूल रूप गलने लगेगा और द्रवीभूत होगा। फिर सूक्ष्मातिसूक्ष्म होता जाएगा और जाते-जाते ऐसी पराकाष्ठा को प्राप्त हो जाएगा जहां से आपको एकबारगी इन प्राकृतिक पदार्थों को छोड़कर अप्राकृतिक का आश्रय लेना पड़ेगा। स्थूल बदलकर सूक्ष्म रूप धारण कर लेता है और भौतिक आध्यात्मिक हो जाता है। यह ज्ञान के प्रत्येक विभाग में होता रहता है।

इस प्रकार मनुष्य को बाह्य के अध्ययन के लिए विवश होना पड़ा है। जीवन मरुभूमि हो जाएगा और मनुष्य का जीवन निःसार हो जाएगा, यदि हम बाह्य को न जान सकें। यह कहना अच्छा है कि वर्तमान दशा पर हमें संतुष्ट रहना चाहिए; बैल और कुत्ते जंतु वा प्राणी हैं, वैसे ही और सब जंतु भी हैं; बस इतने ही से वे जंतु हैं। इसी प्रकार यदि मनुष्य वर्तमान दशा से संतुष्ट रहें और इसके बाहर की सब जिज्ञासा त्याग दें तो फिर मनुष्य पशु हो जाएं। यह धर्म ही है—अर्थात् परोक्ष की जिज्ञासा, जिससे मनुष्य और हैं और पशु और हैं। यह ठीक कहा गया है कि केवल मनुष्य एक ऐसा जंतु है जो ऊपर देखता है, अन्य जंतु सामने देखने वाले हैं। ऊपर देखना, ऊपर की जिज्ञासा करना और आप्तता ढूंढ़ना ही मोक्ष वा निर्वाण कहलाता है; और ज्यों ही मनुष्य ऊर्ध्वगामी होने लगता है, त्यों ही वह उस सत्य के आदर्श की ओर उठने लगता है जिसे निर्वाण कहते हैं। इसमें इसकी आवश्यकता नहीं कि आपके पास पुष्कल धन हो वा आपके पास उत्तम परिच्छद हों वा रहने के घर अच्छे हों; पर आवश्यकता है मस्तिष्क में आध्यात्मिक विचारों के होने की। इसी से मनुष्य उन्नति कर सकता है; यही सारी भौतिक और आध्यात्मिक उन्नतियों की जड़ है जिसमें छिपी हुई वह संचालक शक्ति है, वह उत्साह है, जो मनुष्य को आगे ढकेलता है।

धर्म न तो रोटी में रहता है, न घर में रहता है। बार-बार यह आपत्ति आपके सुनने में आई होगी कि धर्म से लाभ क्या है? क्या इससे दरिद्रों की दरिद्रता जाती रहेगी? मान लीजिए कि वह न हुआ, तो क्या इतने से धर्म की असत्यता सिद्ध हो जाएगी? मान लीजिए कि आप ज्योतिष के एक प्रश्न का स्पष्टीकरण कर रहे हैं और एक बच्चा आकर पूछे कि क्या इससे जलेबी मिलेगी? आप उत्तर देंगे कि नहीं, जलेबी न मिलेगी। बच्चा कहेगा कि तो फिर यह व्यर्थ ही है। बच्चे सब बातों को अपनी ही परिस्थिति से देखते हैं। उनके लिए तो वही अच्छा है जिससे जलेबी मिले। ऐसे ही संसार के बाल-धी भी हैं। हमें उच्च पदार्थों का निर्णय नीच परिस्थिति से नहीं करना चाहिए। प्रत्येक पदार्थ का निराकरण उसी की परिस्थिति से करना ठीक होता है। अनंत का निर्णय अनंतता की परिस्थिति से होना चाहिए। धर्म मनुष्य के जीवन के अंग-अंग में व्याप्त है, न केवल वर्तमान में, अपितु भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनों काल में। अतः यह नित्य जीवात्मा का नित्य ईश्वर के साथ शाश्वत संबंध है। क्या यह न्यायसंगत है कि हम क्षणभंगुर मानव-जीवन से धर्म के मूल्य का अनुमान करें? कभी नहीं। यह सब निषेधार्थक उपपत्तियां हैं।

अब इस बात पर ध्यान दीजिए कि धर्म से कुछ लाभ है। हां है तो। इससे मनुष्य को अनंत जीवन का लाभ होता है। इसने मनुष्य को इस दशा पर पहुंचाया है और यही उसे मनुष्य से देवता बना देगा। यही धर्म कर सकता है। धर्म को मनुष्य-समाज से अलग कर दीजिए, फिर वह रह क्या

जाएगा? केवल पशुओं का झुंड। इंद्रियों का सुख मनुष्यता का लक्ष्य नहीं है, ज्ञान ही सारे जीवन का लक्ष्य है। हम देखते हैं कि मनुष्य को बुद्धि से उतना अधिक सुख मिलता है जितना पशुओं को इंद्रियों से नहीं मिलता। हम देखते हैं कि उसे अध्यात्म से जो आनंद मिलता है, वह बुद्धि से भी नहीं मिलता। अतः अध्यात्मज्ञान सर्वोत्कृष्ट ज्ञान है। इसी ज्ञान से आनंद उत्पन्न होता है। संसार के सारे पदार्थ उसी की छाया हैं। सच्चा ज्ञान और आनंद तीसरे, चौथे विकार की अभिव्यक्तियां हैं।

एक प्रश्न और शेष रह गया। लक्ष्य वा अवधि क्या है? इस समय कुछ लोग कहते हैं कि मनुष्य निरंतर आगे को उन्नति करता जा रहा है और कोई आप्तता की अवधि प्राप्त करने को नहीं है। 'नित्य आगे बढ़ता जा रहा है, पर कहीं पहुंच नहीं रहा है' यह स्पष्ट अनर्गल बात है। क्या सरल रेखा में कुछ गति है? सरल रेखा निरंतर बढ़ाई जाने पर वृत्त बन जाती है। वह जहां से आरंभ हुई, वहीं आ जाती है। आप जहां से चले वहीं पहुंचेंगे; और जब आपका आरंभ ईश्वर से हुआ है, तब उसी में अंत भी होगा। फिर बचा क्या? आडंबर मात्र। अनंतकाल तक आपको कर्माडंबर करना ही पड़ेगा।

फिर भी एक और प्रश्न खड़ा होता है। क्या हमें आगे बढ़ते हुए धर्म की नई-नई सत्यता की खोज करना है? उत्तर है—हां और नहीं—दोनों। पहले तो यह है कि धर्म का इससे अधिक ज्ञान हम प्राप्त नहीं कर सकते; सब प्राप्त हो चुका है। संसार के सब धर्मों में आपको यह प्रतिज्ञा मिलेगी कि हममें एकता है। ज्ञान कहते हैं एकता प्राप्त करने को। हम आपको स्त्री और पुरुष के रूप में देखते हैं, यह भेद ज्ञान है। यह विज्ञान की बात है कि हम आप सबको एक वर्ग में रखकर मनुष्य कहते हैं। उदाहरण के लिए रसायनशास्त्र को ले लीजिए। रासायनिक लोग सब ज्ञात पदार्थों के मौलिक भूतों को जानना चाहते हैं और उनका अर्थ होता है उस एक मूल तत्त्व के जानने का, जिससे वे सब निकले हैं। वह समय आ सकता है जब कि उन्हें उस मूल तत्त्व का ज्ञान हो जाए जो सारे भूतों का मूल है। वहां पहुंचकर वे आगे नहीं जा सकते। तब रसायनशास्त्र पूर्ण हो जाएगा। यही दशा धर्म के विज्ञान की भी है। यदि हमें पूर्ण अभेद वा एकता का बोध हो जाएगा, तो हमें आगे जाना रह ही न जाएगा।

दूसरा प्रश्न यह है कि क्या ऐसी एकता मिल सकेगी? भारतवर्ष में धर्म और दर्शन के विज्ञान को प्राप्त करने की चेष्टा की जा चुकी है। कारण यह है कि जैसे पश्चिम के देशों की चाल है, हिंदू इन दोनों को अलग-अलग नहीं समझते। हम समझते हैं कि धर्म और दर्शन एक ही वस्तु के दो भिन्न-भिन्न रूप हैं और दोनों तर्क और वैज्ञानिक सत्य की कसौटी पर कसे जा सकते हैं। ❖

घर-परिवार और मित्र-परिजनों के यहां खुशी के अवसरों पर 'जैन भारती' उपहार के रूप में एक वर्ष, तीन वर्ष या दस वर्ष तक भिजवाकर आप आध्यात्मिक-नैतिक मूल्यों के विकास में योगदान दे सकते हैं। जन्म-दिन का उपहार हो या कोई अन्य अवसर, 'जैन भारती' अनुपम उपहार के रूप में भेंट के लिए हमें लिखें। आपकी ओर से हम यह कार्य करेंगे।

जैन भारती एक संपूर्ण पत्रिका है।
वैचारिक उन्मेष और परिष्कृत रंजन के लिए
जैन भारती पढ़ें—सबको पढ़ाएं।

व्यवस्थापक
जैन भारती
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक
गंगाशहर, बीकानेर 334401

अनुभूति

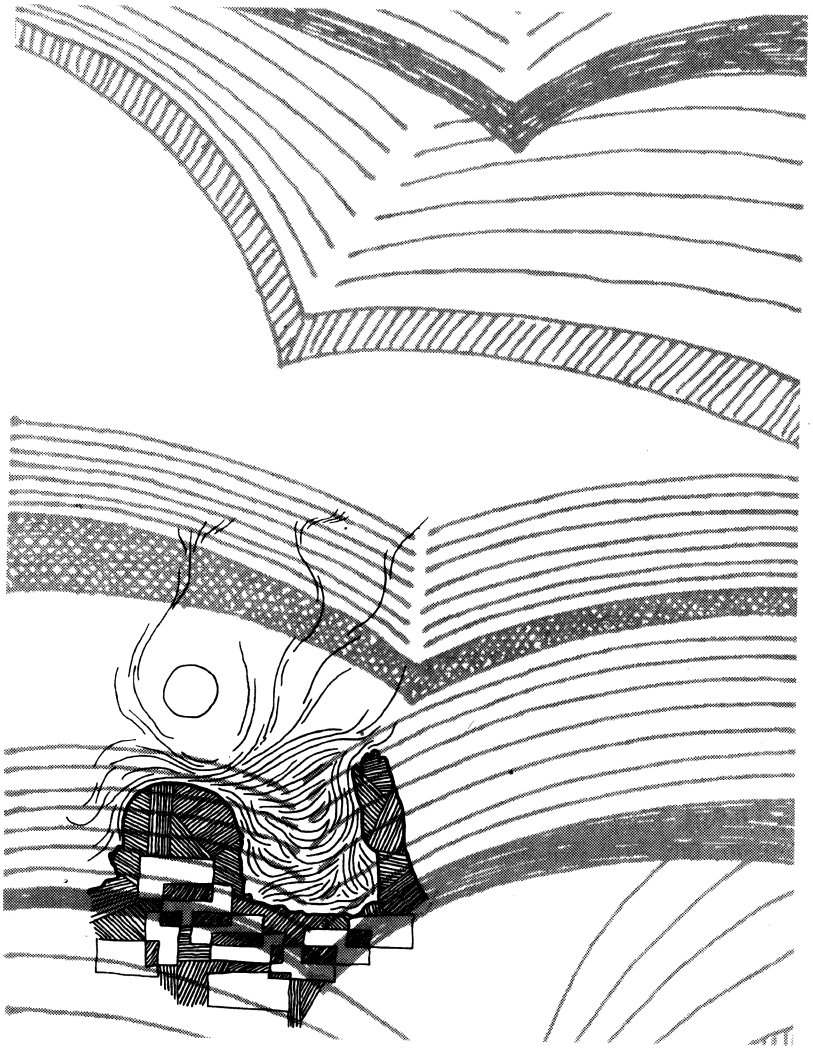

नारियल के पेड़ की जड़ें धरती के बाहर निकल आती हैं, नंगी दिखाई पड़ती हैं। उड़ा-बुझा-सा रंग होता है उनका। इतने लंबे, तने खड़े पेड़ की इतनी सूखी-छितरी जड़ें देखकर मेरा हृदय विषण्ण हो जाता है। यह ध्यान में ही नहीं आता कि पेड़ का माथा आकाश को छू रहा है। पेड़ के पांवों का न कोई रंग है, न आकार है। आधार इतना हो कि जल आस-पास रहे; रेती पोषण करे। बालू की बांझ निकटता में ही जीवन बीत जाएगा, जड़ें मानो यही कहती हैं।

दुर्योधन का चित्र आंखों में जब-जब तिर जाता है, ऐसी ही विषण्णता घेर लेती है। दिखती है उसके व्यक्तित्व की सूखी-छितरी जड़ें।

—दुर्गा भागवत

भविष्य ही वर्तमान बनता है और वर्तमान ही अतीत। पहले से जो है वही वर्तमान में आता है, वही वर्तमान-स्थित बन अतीत में परिणत हो जाता है। काल स्वयं अखंड है। वह अतीत, वर्तमान और भविष्य बनता है, पर सापेक्ष होकर। जहां द्वैत है, वहां परस्पर सापेक्षता आवश्यक है। एक को समझने के लिए दूसरे को समझना ही होगा। जहां एक ही होता है, वहां समझने की स्थिति ही नहीं बनती। एक अनेक-सापेक्ष होता है और अनेक एक-सापेक्ष। इसीलिए एक को समझने के लिए अनेक को और अनेक को समझने के लिए एक को समझने की बात अपने-आप आती है—'जो एगं जाणई से सव्वं जाणई, जो सव्वं जाणई से एगं जाणई।' सापेक्षता ही जीवन है। जीवन शरीर-सापेक्ष है। शरीर-मुक्त आत्मा में जीवन-मौत जैसा कुछ भी नहीं होता।

—❑—

❑ मनुष्य : चैतन्य सत्ता का उपभोक्ता ❑

❀ आचार्यश्री महाप्रज्ञ ❀

प्रायश्चित्त का तात्पर्य है कि जिस भी क्षण मन में राग का संस्कार उत्पन्न हुआ, मन में द्वेष का संस्कार उत्पन्न हुआ, उसे उसी क्षण धो डालो, सफाई कर दो, परिवर्तन कर दो। फिर वह सताएगा नहीं। बीज को नष्ट कर दिया, वह सताएगा नहीं। बीज को नष्ट कर दिया, वह वृक्ष नहीं बन पाएगा। प्रायश्चित्त नहीं होता है तो बीज को पनपने का मौका मिल जाता है। अंकुरित होने का मौका मिल जाता है। कालांतर में वह वृक्ष बन जाता है, उसके फल लग जाते हैं, उसकी जड़ें जम जाती हैं। तब हमारे वश की बात नहीं रहती। हमें उसके फल भुगतने ही पड़ते हैं। फल भुगतने के लिए हमें बाध्य होना पड़ता है। अध्यात्म का रहस्य यही है कि हम क्षण-क्षण के प्रति जागरूक रहें।

दो मुख्य केंद्र

शरीर में दो मुख्य केंद्र हैं। एक है—कामकेंद्र और दूसरा है—ज्ञानकेंद्र। नाभि के नीचे का स्थान कामकेंद्र है, वासनाकेंद्र है। मस्तिष्क है—ज्ञानकेंद्र। हमारे शरीर में ऊर्जा का एक ही प्रवाह है। जहां मन जाएगा, वहां ऊर्जा जाएगी। जहां मन जाएगा, वहां प्राण जाएगा। यदि हमारा मन, हमारा चिंतन कामकेंद्र की ओर ज्यादा आकर्षित होता है तो उसे बल मिलेगा, शक्ति मिलेगी और वह समृद्ध होगा। प्रकृति का यह अटल नियम है कि जिसे सिंचन मिलता है, वह पुष्ट होता है, जिसे सिंचन नहीं मिलता, वह सूख जाता है, नष्ट हो जाता है। जिसे सिंचन प्राप्त है, वह बढ़ता है, फलता-फूलता है। जिसे सिंचन प्राप्त नहीं है, वह टूट जाता है, ठूंठ मात्र रह जाता है। हमारी ऊर्जा का जिसे सिंचन मिलेगा, वह अवश्य पुष्ट होगा, बढ़ेगा, फलेगा-फूलेगा, फिर चाहे वह कामकेंद्र को मिले।

यदि हमारा चिंतन नीचे की ओर जाता है, कामकेंद्र की ओर जाता है तो हमारी ऊर्जा का प्रवाह उस ओर मुड़ जाता है। हमारी सारी प्राण-शक्ति उसी ओर प्रवाहित होने लग जाती है। तब कामकेंद्र बलवान होता जाता है और ज्ञानकेंद्र कमजोर होता जाता है। यह प्रक्रिया लौकिक चित्त की है। लौकिक चित्त सदा कामना को पुष्ट करता है, कामकेंद्र को सिंचन देता है, बलवान बनाता है। हम यह भलीभांति जानते हैं कि मनुष्य के जीवन में कामना का जितना तनाव होता है, उतना तनाव किसी का भी नहीं होता। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह निरंतर रहने वाला तनाव है। क्रोध का आवेग कभी-कभी होता है, लोभ की चेतना कभी-कभी होती है, किंतु काम की चेतना निरंतर रहती है। जब हमारी चेतना कामकेंद्र की ओर अधिक बढ़ने लगती है, तब सहज ही ज्ञानकेंद्र की शक्तियां क्षीण होती जाती हैं।

साधना से इसे उलटना होता है। जो साधक अपने ज्ञान का विकास चाहता है, जो निर्मलता चाहता है, उसे चेतना के प्रवाह को उलटना होगा, मोड़ना होगा। अर्थात् मन को ऊपर की ओर ले जाना होगा।

मूल्यांकन का मार्ग

हम इस दुनिया में सत्य और भ्रांति के चक्र में पड़े हुए हैं। धर्म का सारा मार्ग सत्य की खोज के लिए है। आदिकाल से मानव सत्य की खोज करता चला आ रहा है। साथ-साथ भ्रांति भी चल रही है। यह चलती रहेगी। यदि भ्रांति साथ-साथ नहीं चले, तो धर्म की कोई अपेक्षा ही नहीं रहे। जैसे-जैसे धर्म का विस्तार हुआ है, वैसे-वैसे भ्रांति का भी विस्तार हुआ है। हम धर्म और अध्यात्म की बात सत्य की उपलब्धि के लिए करते हैं। आदमी सोने का मूल्य कर सकता है, पर मिट्टी का नहीं। क्योंकि वह इतनी सहज और सुलभ है कि हर आदमी उसे प्राप्त कर सकता है। यह सच है कि सोने की तुलना में मिट्टी का मूल्य हजार गुना अधिक है। सोना आदमी को मार सकता है, पर मिट्टी ने न जाने कितने मरने वालों को उबारा है। तभी तो मिट्टी का मूल्य नहीं आंका जा सकता, क्योंकि वह सहज है, सुलभ है। हम रोटी का मूल्यांकन करते हैं, क्योंकि रोटी हमारा जीवन है। परंतु, जो सचमुच जीवन है, उसका हम कभी भी मूल्यांकन नहीं करते। वह है प्राण। वह है हमारा स्वास्थ्य। साधना की पद्धति मूल्यांकन का ही मार्ग है।

अध्यात्म और संप्रदाय

जहां मतभेद का प्रश्न है वहां हजार संप्रदाय हो जाते हैं। लोग कहते हैं—संप्रदाय नहीं होने चाहिए। सोचता हूं कि हजारों संप्रदाय हों। हर व्यक्ति का एक संप्रदाय हो। अध्यात्म ही एक ऐसा विकल्प है जहां कोई संप्रदाय-भेद नहीं है। साधना और अध्यात्म में कोई संप्रदाय-भेद नहीं होता।

सबसे क्षमाप्रार्थी हूं सबको क्षमा देता हूं

आचार्यश्री महाप्रज्ञ

संवत्सरी का महान पर्व जैन समाज के लिए महास्नान का पर्व है। यह अंतःकरण की व्याधियों और मनोकायिक बीमारियों की शुद्धि के लिए चिकित्सा-पर्व भी है। स्वास्थ्य की सुरक्षा के लिए तथा भविष्य की प्रतिबद्धता के लिए इसे कार्य-सिद्धि का पर्व भी कहा जा सकता है। इस प्रकार यह शुद्धि का पर्व है, चिकित्सा का पर्व भी है और सिद्धि का पर्व भी है।

सामाजिक जीवन जीने वाले हर व्यक्ति में प्रियता और अप्रियता का भाव आना संभव है। प्रियता और अप्रियता का भाव आए और रागद्वेष न उभरे, यह संभव ही नहीं है। राग-द्वेष जागे और ईर्ष्या की कालिमा न जमे, यह भी असंभव बात है। कालिमा जमे और वह व्यक्ति को शारीरिक व मानसिक दृष्टि से न सताए, यह कभी हो ही नहीं सकता। शारीरिक और मानसिक बीमारियां वहीं से ही उत्पन्न होती हैं। अतः इस पर्व का मूल्य केवल आध्यात्मिक ही नहीं, इसका चिकित्सकीय तथा स्वास्थ्यात्मक मूल्य भी है। यह जैन तीर्थंकरों और आचार्यों का महान अवदान है। प्रत्येक व्यक्ति शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक स्वास्थ्य और आध्यात्मिक स्वास्थ्य को गतिशील रख सके और भविष्य में आने वाले अवरोधों को मिटा सके, इसलिए उन्होंने एक दिन का चुनाव किया और वह महान पर्व बन गया।

प्रतिरोधात्मक शक्ति का होना महत्त्वपूर्ण बात है। प्रतिरोधात्मक शक्ति से ही रोग के कीटाणुओं से लड़ा जा सकता है। यदि वह नहीं होती है तो रोग का आक्रमण सहज हो जाता है। शरीर में रोग-निरोधक क्षमता होनी चाहिए।

क्षमा का अर्थ है सहिष्णुता। जब तक सहिष्णुता की शक्ति का विकास नहीं हो जाता, तब तक आदमी क्षमा करके भी क्षमा का लाभ नहीं उठा पाता। बहुत बार आदमी भ्रम को पाल लेता है, केवल शाब्दिक स्थिति में चला जाता है और अंतर्भाव में सहिष्णुता का क्रमिक विकास हो नहीं पाता। उसे क्षमा का सीमाबोध भी नहीं हो पाता।

एक रोगी डॉक्टर के पास गया। डॉक्टर ने कहा—तुम नशीली चीजों से दूर रहो। रोगी ने बात मान ली। अब वह लंबी नली में सिगरेट डालकर पीने लगा। एक फुट लंबी नली को देखकर एक व्यक्ति ने पूछा—सिगरेट पीने का यह क्या तरीका

→

साधना का सबसे बड़ा योग है ध्यान। ध्यान का अर्थ है—निर्विकल्पता, जहां कोई विकल्प नहीं, विवाद नहीं। इसमें मतवाद का प्रश्न ही नहीं उठता। साधना में मुंह बंद होता है, कान बंद होते हैं, आंखें बंद होती हैं, फिर वहां विवाद का प्रश्न ही कैसे उठेगा? हमारी जो नैतिकता की पूंजी है, उसकी मूल पृष्ठभूमि है—अध्यात्म। अध्यात्म के आधार पर ही नैतिकता विकसित हो सकती है। आज हमारा सारा ध्यान शरीर-केंद्रित हो गया। मूल है मन। उसकी हम उपेक्षा करते चले जा रहे हैं। हमें सबसे अधिक प्रभावित करने वाला तत्त्व है—मन।

आत्मा और प्राण

दो वस्तुएं हैं—आत्मा और प्राण। एक है—आत्मशक्ति और एक है—प्राणशक्ति। एक है—प्राणबल और एक है—आत्मबल। हमारा लक्ष्य है—आत्मोपलब्धि। हम आत्मा के मूल स्तर तक पहुंचना चाहते हैं। आत्मा को पाना चाहते हैं, मूल चेतना तक पहुंचना चाहते हैं। यह हमारा मूल लक्ष्य है। प्राण इससे पहले आता है। उसका स्थान इससे पूर्व है। आत्मा तक कौन पहुंच पाता है? आत्मा तक वही पहुंच पाता है, जो प्राणवान है, जो शक्तिशाली है। जिसका मनोबल ऊंचा है, जिसका संकल्प-बल प्रबल है—वह पहुंच सकेगा आत्मा तक। जिसकी इच्छाशक्ति प्रबल है, वह आत्मा तक पहुंच पाएगा। जिसका मनोबल क्षीण है, जिसका संकल्पबल क्षीण है, जिसकी इच्छाशक्ति, प्राणशक्ति दुर्बल है, जो वीर्यहीन है—वह कभी आत्मा को नहीं पा सकता। आत्मा को पाने के लिए प्राण को शक्तिशाली बनाना जरूरी है। जो जाप का स्तर है, वह प्राण के स्तर पर चलने वाला क्रम है। यह प्राण को शक्तिशाली बनाता है।

→

है। उसने कहा डॉक्टर ने नशीली चीजों से दूर रहने की सलाह दी है। इसलिए मैं तंबाकू से दूर रहता हूं, नजदीक नहीं जाता।

बीच में एक फुट लंबी नली है, तो वह तंबाकू से एक हाथ दूर है। किंतु इस दूरी का क्या कुछ भी अर्थ हो सकता है?

हमारे शब्दों की नली भी बहुत लंबी है। हम बचने का बहुत प्रयत्न करते हैं, किंतु जब तक भूल का शोधन नहीं हो जाता, तब तक कठिनाइयां बढ़ती चली जाती हैं, कम नहीं होतीं।

क्षमापना का पर्व विस्मृति का पर्व है। विस्मृति बहुत बड़ा वरदान है। स्मृति जितना बड़ा वरदान है, उतना ही बड़ा वरदान है—विस्मृति।

यह पर्व मनोवैज्ञानिक पर्व है। इसकी एक पूरी शृंखला है। प्रियता-अप्रियता का मैल जमे तो उसे पंद्रह दिन से स्नान कर साफ कर लें। यह है पाक्षिक स्नान। उससे भी यदि पूर्ण शुद्धि नहीं हुई, तो चातुर्मासिक स्नान करें। उससे भी कलुषता न मिटे, तो दूसरी बार फिर चातुर्मासिक स्नान करें, तीसरी बार चातुर्मासिक स्नान करें। यह अनुभव हो कि इससे भी पूरी शुद्धि नहीं हुई है, तो फिर वार्षिक महास्नान करें। जिसकी वार्षिक महास्नान से भी शुद्धि नहीं होती, तब मान लेना चाहिए कि रोग असाध्य है। वह न सम्यक्दृष्टि है, न श्रावक है और न साधु है, कुछ भी नहीं।

यह पर्व चिकित्सा का एक महान सूत्र है और सिद्धि का भी एक महान सूत्र है।

तेरापंथ धर्मसंघ सहिष्णुता का धर्मसंघ है। उसका पूरा इतिहास सहिष्णुता की घटनाओं से भरा पड़ा है। आचार्य भिक्षु महा क्षमाशील थे। मैं सोचता था, आचार्यश्री तुलसी जब सबसे क्षमायाचना करते, तब इतने भाव-विभोर कैसे हो जाते? कहां से सीखा इन्होंने? किंतु जब आचार्य भिक्षु को पढ़ा, तो मुझे लगा कि आचार्यश्री तुलसी कोई नया काम नहीं कर रहे हैं। परंपरा का ही पालन कर रहे हैं। अपने आचार्यत्व को ही निभा रहे हैं, जिस आसन पर आसीन हैं, उसकी विधि का अनुसरण कर रहे हैं। आचार्य भिक्षु ने अपने जीवन के अंतिम क्षणों में एक-एक साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका को याद कर क्षमायाचना की थी। उस समय उनकी ऋजुता साकार हो उठी थी। इस प्रक्रिया से उन्होंने अपनी शुद्धि कर एक आदर्श उपस्थित किया था। वह मानदंड बन गया और आज तंक सभी आचार्य वैसा ही कर रहे हैं।

सहनशीलता और क्षमा हमारे संघ का जीवाणु है। वह हमारी परंपरा है। उस परंपरा से मैं भी जुड़ा हुआ हूं। प्रियता-अप्रियता के भाव किसी में भी आ सकते हैं, आते हैं, आए हैं। मैं अपनी शुद्धि के लिए, अपनी चिकित्सा के लिए और सिद्धि के लिए सबसे क्षमाप्रार्थी हूं और सबको क्षमा देता हूं। मैं सतत यह कामना करता हूं कि मेरे में शुद्धि, चिकित्सा और सिद्धि का भाव प्रतिदिन वृद्धिगत होता रहे और ऋजुता सदा जाग्रत रहे। ❖

प्राण हमारी विद्युत शक्ति होती है। कोई भी प्राणी ऐसा नहीं होता जिसमें यह शक्ति न हो। हमारी सारी सक्रियता, चंचलता, हमारा उन्मेष और निमेष, हमारी वाणी, हमारा चिंतन, हमारी गति, हमारी दीप्ति, हमारा आकर्षण—ये सब प्राण के आधार पर होते हैं, विद्युत शक्ति के आधार पर होते हैं। विद्युत ही ये सारे कार्य निष्पन्न करती है। विद्युत को बढ़ाना मनोबल को बढ़ाना है। जिसकी विद्युत तीव्र होती है; उसका मनोबल बढ़ जाता है। जिसकी विद्युत क्षीण होती है, उसका मनोबल घट जाता है।

हिंसा अज्ञान में नहीं होती है। कोई भी अज्ञानी कभी हिंसा नहीं कर सकता। हिंसा ज्ञानवान प्राणी करता है, जीव करता है। हिंसा भी ज्ञान में होती है और असत्याचरण भी ज्ञान में ही होता है। चोरी भी ज्ञान में होती है। वासनाएं और दुर्भावनाएं भी ज्ञान की सीमा में होती हैं।

जीवन के दो बिंदु : नीति और अध्यात्म

जीवन एकरस और धारावाही है। उसके टुकड़े नहीं किए जा सकते—यह सच है, किंतु यह स्थूल सच ही है। सूक्ष्म सत्य की दृष्टि से जीवन है चैतन्य के धागे में पिरोई हुई भिन्न-भिन्न मोतियों की माला। उसकी प्रत्येक और प्रत्येक बार की प्रवृत्ति उसे खंड-खंड कर डालती है। देश और काल उसे जुड़ा नहीं रहने देते। स्थितियां अनुस्यूति को सहन नहीं करतीं। मोहन दो वर्ष की आयु में भी मोहन था और आज सौ वर्ष की आयु में भी मोहन है। उसके जीवन का धागा टूटा नहीं, वह टूट जाता तो मोहन क्या बनता— यह हमारी आंखों से परे की बात है। किंतु मोहन का जीवन-धागा दो वर्ष की आयु में जैसा था, वैसा ही सौ वर्ष की आयु में है—यह कौन मानेगा? वह बदला है और बदलता आया है। यह बदलने की बात भी सच है, किंतु एकांततः नहीं। बदलता वही है, जो पहले होता है और आगे भी। जो न आगे होता है और न पीछे, वह बीच में भी नहीं होता—'जस्स नत्थि पुरा पच्छा मज्झे तस्स कुओ सिया।'

सापेक्षता ही जीवन है

भविष्य ही वर्तमान बनता है और वर्तमान ही अतीत। पहले से जो है वही वर्तमान में आता है, वही वर्तमान-स्थित बन अतीत में परिणत हो जाता है। काल स्वयं अखंड है। वह अतीत, वर्तमान और भविष्य बनता है, पर सापेक्ष होकर। जहां द्वैत है, वहां परस्पर सापेक्षता आवश्यक है। एक को समझने के लिए दूसरे को समझना ही होगा। जहां एक ही होता है, वहां समझने की स्थिति ही नहीं बनती। एक अनेक-सापेक्ष होता है और अनेक एक-सापेक्ष। इसीलिए एक को समझने के लिए अनेक को और अनेक को समझने के लिए एक को समझने की बात अपने-आप आती है—'जो एगं जाणई से सव्वं जाणई, जो सव्वं जाणई से एगं जाणई।' सापेक्षता ही जीवन है। जीवन शरीर-सापेक्ष है। शरीर-मुक्त आत्मा में जीवन-मौत जैसा कुछ भी नहीं होता। तर्कवाद का मायाजाल जीवन से गुंथा हुआ है। जहां जीवन नहीं, वहां तर्क नहीं होता, वहां तक तर्क पहुंचता ही नहीं—'तक्का तत्थ न विज्जई।'

पुद्गल और चेतना का समन्वय

जीवन के परिपार्श्व में वाणी चलती है, मन उड़ान भरता है। शरीर, वाणी और मन—तीनों की सृष्टि जीवन में होती है। तीनों की सृष्टि जीवन है। पुद्गल के साथ चेतना का जो समन्वय है, वह जीवन है। जीवन निखरता है—रूप, रस, गंध और आकार से। चेतना का आधार अरूप है, अरस है, अगंध और अनाकार है। जीवन दृश्य है, वह अदृश्य है। जीवन पौद्गलिक है, वह अपौद्गलिक है। जीवन कर्म है, वह कर्ता है, प्राणी है। प्राणी प्राणों से बंधा हुआ है। प्राण आते हैं, चले जाते हैं। प्राणी बंधता है, छूट जाता है। प्राणी नहीं मिटता, प्राण भी नहीं मिटते। प्राणी और प्राण का संबंध मिट जाता है। फिर प्राणी उन प्राणों का प्राणी नहीं रहता और वे उस प्राणी के प्राण नहीं रहते, यह समझौते की समाप्ति है। यही जीवन का अंत है। इसी का नाम है मौत। प्राणी व प्राणों की संधि जीवन है। चलना, बोलना और सुनना—ये आत्मा और पुद्गल के स्वभाव-धर्म नहीं हैं। दोनों मिलते हैं, तीसरी वस्तु निकल आती है। वह न आत्मा है और न पुद्गल ही, उसका अपना नाम है—'जीवन'। वह आत्मा भी है और पुद्गल भी। वह कर्म और चेतना का समन्वय है, पार्थिव और अपार्थिव की मिली-जुली स्थिति है।

जीवन का लक्ष्य

जीवन का लक्ष्य क्या है—यह अगम्य है। लक्ष्य क्या होना चाहिए—यह विचार करने की वस्तु है। लक्ष्य-निर्णय के पूर्व लक्ष्य-निर्णेता के स्वरूप का निर्णय आवश्यक है। लक्ष्य-निर्णय का जो चेतन है, वह स्वतंत्र सत्ता है या नहीं—यह प्रश्न चोटी का है। चोटी का इसलिए कि उसको पकड़े बिना नीचे की कल्पनाओं को बढ़ने की दिशा नहीं मिलती। चेतना की स्वतंत्र सत्ता को त्रिकालभावी माननेवाले की जो दिशा होगी, वह उसे वर्तमान जीवन

पर्यवसित माननेवाले की नहीं होगी। आध्यात्मिकता या संयम का स्वतंत्र मूल्य आत्मवादी जानता है। नीति से आगे जाना चाहिए—यह अनात्मवादी की समझ से परे की बात है। आत्म-शांति या सुख-दुख में सम रहने की वृत्ति के लिए आत्मनिष्ठ सोच सकता है। अनात्मनिष्ठ के लिए वह चिंतन का विषय नहीं बनता।

अभय

भगवान महावीर को ग्रंथ से अतीत, अभय और अनायु कहा गया है। वे अभय थे, इसीलिए उन्होंने अभय का बहुत सुंदर उपदेश दिया। प्रश्न-व्याकरण सूत्र में उसका जितना मर्मभरा वर्णन है, उतना अन्यत्र विरल ही होगा। भगवान महावीर का पहला सूत्र अभय था, क्योंकि वे अहिंसक थे। जो अभय होता है, वही अहिंसक होता है। जो अभय नहीं होता, वह अहिंसक भी नहीं होता। अभय शब्द हमारे लिए सुपरिचित है। मोह से भय पैदा होता है। वास्तविक भय तो कम ही होता है, अधिकांशतः भय कल्पना-जनित होता है। संदेह के कारण भय जगता है। मार्ग में गाय खड़ी है। पांच-सात व्यक्तियों को आते देख वह रौद्र रूप धारण कर लेती है। उसके मन में संदेह होता है कि ये मुझ पर आक्रमण करने आ रहे हैं। पशु ही नहीं, मनुष्य भी ऐसी ही आशंका से दूसरों की हिंसा कर देता है। 'अमुक व्यक्ति मेरा अनिष्ट करेगा'—इस भावी कल्पना में उलझकर वह दूसरों की हिंसा करता है।

भय के हेतु

भय क्या है? अनिष्ट की आशंका उत्पन्न करनेवाली क्रिया। योग और वियोग की आशंका, अनिष्ट और अप्रियता की आशंका ही भय पैदा करती है। ममत्व के साथ भी उसका गहरा संबंध है। स्थानांग सूत्र में भय की उत्पत्ति के चार कारण बतलाये गए हैं : 1. हीनसत्त्व—हीनसत्त्वता; दुर्बलता। 2. भय वेदनीय—संस्कारों का विपाक। 3. मति—भय का मनन। 4. तदर्थोपयुक्तता—भय के चिंतन में एकाग्रता। इन चार कारणों में एक कर्मज है और तीन नोकर्मज हैं। हर व्यक्ति में दुर्बलता होती है, कोई परिपूर्ण नहीं होता। भय अपनी दुर्बलता के कारण ही सताता है।

भय के परिणाम

भय के दो परिणाम बहुत स्पष्ट हैं—रोग और साथ ही सुख की हानि। सामाजिक जीवन में भय न हो तो कार्य कैसे चले? 'लोग क्या कहेंगे?'—आशंकाजनित भय बहुत बार बुराइयों से बचाता है। सामाजिक जीवन में भय अनावश्यक है, यह कहना कठिन है। सबका जीवन उन्नत नहीं होता, इसलिए यदि किंचित मात्रा में भय न हो तो व्यवस्था ठीक नहीं चलती।

अभय और आत्मानुशासन

साधना की दृष्टि से विचार करें तो हमारे मन में भय नहीं होना चाहिए। प्रश्न उठता है कि भय नहीं होगा तो अनुशासनहीनता पनप जाएगी और विघटन का मार्ग खुल जाएगा। यदि भय होता है तो साधना में बाधा आती है।

कुछ लोग इस भाषा में बोलते हैं कि मैं किसी से नहीं डरता। क्या यह अभय है? ऐसा कहना अभय नहीं, दुःसाहस है। अभय वह होता है जिसके मन में कर्तव्य का बोध जाग जाए, आत्मानुशासन का बीज अंकुरित हो जाए।

अभय के सूत्र

साधना के क्षेत्र में अभय के तीन सूत्र हैं—1. निर्ममत्व की साधना। 2. निर्विकल्पता की साधना। 3. मैत्री।

उक्त तीन भावनाओं की आराधना से अभय प्राप्त होता है। जैसे नवनीत मंथन का परिणाम है, वैसे ही अभय इन तीन भावनाओं की आराधना का परिणाम है।

निर्ममत्व और निर्विकल्पता का विकास होगा तो भय की साधन-सामग्री अपने-आप क्षीण हो जाएगी। जैसे-जैसे चित्त के केंद्रीकरण का अभ्यास बढ़ता जाएगा, वैसे-वैसे भय की मात्रा कम होती जाएगी। ध्यान के अभ्यास से क्रोध स्वयं त्यक्त हो जाता है। कषाय का प्रत्याख्यान कराया नहीं जाता, वह स्वयं हो जाता है। मन पर विजय पाने का अभ्यास करने से वह त्यक्त हो जाता है। भय, घृणा, ईर्ष्या, लोभ आदि स्वयं मिट जाते हैं। कल्पना (संदेह) कम होने से भय को आगे आने का अवसर नहीं मिलता। भय को भोजन न मिलने से वह अपनी मौत मर जाता है।

वैदिक ऋषि कहते हैं :

सर्वा आशा मम मित्राणि सन्तु।

सब दिशाएं मेरी मित्र हों।

जैन ऋषि कहते हैं :

मित्ती में सव्व भूएसु।

सब मेरे मित्र हैं।

प्राणी डरता है दुख से

एक बार भगवान महावीर से पूछा गया—'भंते! किं भया पाणा?' —भगवन! प्राणी किससे डरते हैं?

'दुखभया पाणा'—दुख से।

'दुक्खे केण कडे?'—दुख का कर्ता कौन है?

'पमाएणं'—अपना ही प्रमाद।

'उसका नाश कैसे होता है?'

'अप्रमाद से।'

हमारे मन में प्रमाद नहीं होगा तो दुख का कारण नहीं होगा। दुख का कारण नहीं होगा तो भय भी नहीं होगा।

सामाजिक जीवन का आधार

मनुष्य आस्तिक और नास्तिक—इन दो धाराओं में बंटे हुए हैं। वर्तमान में सह-अस्तित्व और असह-अस्तित्व की धारा में बंटे हुए भी मान सकते हैं। अधिकांश देश सह-अस्तित्व, निःशस्त्रीकरण और समझौता-नीति में विश्वास करते हैं। कुछ देश असह-अस्तित्व और विवाद बढ़ाने में विश्वास करते हैं तथा युद्ध को अनिवार्य मानते हैं। जितने भी विग्रह, कलह या युद्ध होते हैं, वे सब निरपेक्षता से होते हैं।

सामाजिक जीवन का मूल आधार सापेक्षता है। भौगोलिक सीमाओं से विभक्त होने पर भी सब मनुष्य एक ही समाज के अविभक्त अंग हैं। शरीर के अंगों की संस्थान-रचना और कार्य-प्रणाली जैसे भिन्न होती है, वैसे ही समाज के अंग-भूत मनुष्यों की संस्थान-रचना और कार्य-प्रणाली भिन्न होती है। भेद को ही सामने रखकर यदि एक अंग दूसरे से निरपेक्ष होता है, उसकी उपेक्षा करता है, तो अंगी स्वस्थ नहीं रहता। एक की क्षति का फल-भोग समूचे अंगी को—दूसरी भाषा में सभी अंगों को—करना पड़ता है।

यांत्रिक नहीं है मनुष्य

मनुष्य यदि यांत्रिक होता तो वह एक ही प्रकार से सोचता और एक ही प्रकार से काम करता, परंतु वह यांत्रिक नहीं है। वह अपनी पूर्ण चैतन्य सत्ता का उपभोक्ता है। इसलिए वह अपने-आप में पूर्ण स्वतंत्र है। वह एक ही प्रकार से नहीं सोचता और एक ही प्रकार से क्रिया नहीं करता। यह उसकी सहज प्रवृत्ति है।

सापेक्षता में अविश्वास करने वाले इस बात को भुला देते हैं कि मनुष्य यांत्रिक नहीं है। वह अपनी पूर्ण चैतन्य सत्ता का उपभोक्ता है। इस विस्मृति का परिणाम ही असह-अस्तित्व है। जिनको सह-अस्तित्व में विश्वास नहीं है, कहा जा सकता है कि उन्हें मानवता में विश्वास नहीं है। उनका विश्वास मनुष्य को यांत्रिक बनाने में ही है, किंतु यह मनुष्य-जाति के प्रति बहुत जघन्य अपराध है।

सह-अस्तित्व का अर्थ है—मनुष्य के सोचने, करने तथा अपने ढंग से चलने की स्वतंत्रता में विश्वास। 'या मैं या तुम' यह विनाश का मार्ग है। विकास का मार्ग यह है कि 'मैं भी रहूं और तुम भी रहो।' ❖

मानुष्यं दुर्लभं चादावब्धौ चिन्तामणिर्यथा।
तस्मादप्यार्यखण्डं च खण्डादप्युत्तमं कुलम्।।
मतेर्मन्दकषायित्वं तस्मान्मिथ्यात्वहीनता।
ततो हो विनयाद्यः सद्गुणा अत्यन्तदुर्लभाः।।

संसार-समुद्र में पतित जीवों को मनुष्यत्व की प्राप्ति चिंतामणि-रत्न की तरह दुर्लभ है, उससे भी अधिक दुर्लभ आर्य-खंड की प्राप्ति है और उससे भी अधिक दुर्लभ उत्तम कुल की प्राप्ति है। उत्तम कुल से अधिक कठिन आयु-प्राप्ति है, उससे भी अधिक कठिन पांचों इंद्रियों की परिपूर्णता है। उस पंचेंद्रिय-परिपूर्णता से भी बहुत दुर्लभ निर्मल बुद्धि का पाना है, जैसे कि रत्नों की खान को पाना बहुत दुर्लभ है।

—**वीरवर्धमान-चरित** (11/14-16)

शुद्ध साधुता की सफेद चादर में लिपटा उनका तन और मन पवित्रता का पावन पाथेय प्रतीत होता है। प्रवचन हो या प्रशिक्षण, प्रेरणा देनी हो या प्रोत्साहन, परिचय की परिक्रमा हो या परिचर्चा का प्रति-चरण—वे 'संयम बढ़े आपरो पर रो' की चेष्टा में ही संलीन रहते हैं। वैराग्य बढ़े—इस दृष्टि से नित्यप्रति आगमों का स्वाध्याय करने के लिए आकर्षण पैदा करते हैं। प्रतिक्रमण और अर्हत् वंदना को विधिवत और भावक्रियापूर्वक करने के लिए वातावरण बनाते हैं। विकास की मीनार तक पहुंचने के लिए संघनिष्ठा और गुरुनिष्ठा के सोपानों पर आरोहित होने की आवश्यकता बतलाते रहते हैं।

—❑—

❑ समर्पण की स्याही से लिखी जीवन-पोथी ❑

❀ साध्वी शुभप्रभा ❀

श्रमण संस्कृति का आदर्श सूत्र है—**असंजमं परियाणामि संजमं उवसंपज्जामि, अन्नाणं परियाणामि नाणं उवसंपज्जामि, मिच्छतं परियाणामि सम्मतत्तं उवसंपज्जामि**— अर्थात् असंयम का परिहरण और संयम का स्वीकरण, अज्ञान का परिहरण और ज्ञान का स्वीकरण, मिथ्यात्व का परिहरण और सम्यक्त्व का स्वीकरण।

युवाचार्य मनोनयन दिवस
भादपद शुक्ला द्वादशी
(15 सितंबर '05)
हर्ष-हर्ष

आदर्श कौन ?

प्रश्न होगा—आदर्श किसे मानें ? समाधान की भाषा होगी—जो सम्यक् सुने, सम्यक् देखे, सम्यक् पढ़े, सम्यक् सोचे, सम्यक् बोले, सम्यक् कहे, सम्यक् करे और सम्यक् जीए—वह आदर्श माना जाएगा। सुनना, देखना, पढ़ना, सोचना, बोलना, कहना, करना और जीना तभी सार्थक हैं, जब वे समत्व या सम्यक्त्व की वेदिका पर प्रतिष्ठित हों। इस प्रक्रिया से गुजरने वाले व्यक्ति ही आदर्श कहला सकते हैं। पथदर्शक वे ही बनते हैं और वे ही जीवन-निर्माता बनते हैं।

तेरापंथ धर्मसंघ के शुभ भविष्य युवाचार्यश्री महाश्रमण के आदर्श हैं—भगवान महावीर। महावीर—जो अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत आनंद और अनंत सुख के संवाहक हैं। जिन्होंने लाभ-अलाभ, निंदा-प्रशंसा, मान-अपमान, जीवन-मरण, सुख-दुख जैसी द्वंद्वात्मक स्थितियों में समत्व की साधना की। उनकी साधना सिद्धि तक पहुंची और 'समता ही धर्म है'—का सिंहनाद हो गया। समता मानव की चेतना का वह स्तर है, जहां सामग्री-सापेक्ष आह्लाद और विषाद नहीं होता। गुरुदेव श्री तुलसी ऐसा ही कहते थे। युवाचार्यश्री महाश्रमण को इस शिखर को छूना है, पाना है। इसीलिए वे अपने आदर्श को सामने रखकर समरसी भावधारा में प्रतिक्षण अभिष्णात रहते हैं। अपने विशेष उद्बोधन अथवा किसी महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम से पूर्व प्रणतभाव से वे सदा इस गाथा का मंगलाचरण करते हैं—

पन्नगे च सुरेन्द्रे च कौशिके पादसंस्पृशि।
निर्विशेषमनस्कायः श्रीवीरस्वामिने नमः।।

इस गाथा के अनुचिंतन और अनुशीलन से वे समत्व भाव के कवच से अपने-आप को कवचित करते हैं, अभिमंत्रित करते हैं, आरक्षित करते हैं—ऐसा मेरा अभिमत है।

यही नहीं, बालक मोहन (जन्मनाम) ने इस धरा-धरणी को जब पहली बार आंखों से देखा, मां की कुक्षि से बाहर आकर इस दुनिया को जिस दिन निहारा, वह दिन भी भगवान महावीर का कैवल्य-कल्याणक दिवस था।

तभी तो प्रज्ञापुरुष आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने प्रसन्न मुद्रा में 27 अप्रैल, 2001 को श्रीडूंगरगढ़ में कहा— 'महाश्रमण! अवसरज्ञ हैं। जन्म भी अवसर देखकर लिया है। इन्हें पहले से ही सूझ गया था कि मुझे समत्व-भाव की साधना करनी है, अतींद्रिय चेतना का विकास करना है, इसलिए ऐसे दिन का चयन कर लिया। मैं शुभकामना करता हूं कि महाश्रमण कैवल्य की दिशा में प्रस्थान करें।' कैवल्य की दिशा में प्रस्थान तभी संभव है जब साधक का अपने प्रति, अपने इष्ट के प्रति, अपने पथदर्शक गुरु के प्रति और अपने लक्ष्य के प्रति सर्वात्मना समर्पण भाव हो।

स्याही समर्पण की

समर्पण में केवल अपनी आस्था का अर्पण होता है। वह कभी प्रतिदान नहीं चाहता। पूज्य गुरुदेव श्री तुलसी के शब्दों में—'समर्पण एक विशुद्ध मनःस्थिति है। इसमें कोई अनुबंध नहीं होता। कोई शर्त नहीं होती। कोई विवशता नहीं होती, कोई गुलामी नहीं होती। यह स्वेच्छा से स्वीकृत वह पथ है, जहां आराध्य-चरणों में अपने अस्तित्व को विलीन करने का मनोभाव जीवित रहता है।' भारतीय परंपरा में उज्जीवित पूरा भक्तियोग, भक्तिमार्ग इसी भावधारा पर अवलंबित है। युवा मनीषी युवाचार्यश्री महाश्रमण की जीवन-पोथी के अनेक उजले पृष्ठ समर्पण की स्याही से लिखे हुए मिलते हैं। इस संदर्भ में दो प्रसंगों का उल्लेख करना समीचीन होगा।

बात 10 अप्रैल, 2005, लक्ष्मणगढ़ की है। मध्याह्न का समय था। युवाचार्यवर अपने कमरे में आसीन थे। देवगढ़ के भाई-बहन अक्षय तृतीया देवगढ़ में हो तथा इस वर्ष किसी भी साधु और साध्वी का चातुर्मास उन्हें उपलब्ध हो—यह प्रार्थना लेकर पूज्यवर के उपपात में आए। आपने उनकी अर्ज को पूरे मनोयोग से सुना और मुस्कराते रहे। लोगों ने सोचा कि हम पर युवाचार्यश्री की मनोनुकूल नजर है। हमारे पर मर्जी है। यही सोच कर और अवसर की अनुकूलता समझ कर वे बोले—'युवाचार्यवर! आपके हाथ में सब-कुछ है। आप हमारी मांग पूरी करवा सकते हैं।'

युवाचार्यश्री ने प्रसन्नमना सीधी-सपाट और विनोदपूर्ण भाषा में कहा—'भाई! हमारे हाथ में तो हमारी रेखाएं ही हैं।' सुनकर सब लोग एकटक युवाचार्यश्री को

महाश्रमण प्रारंभ से ही मेरे साथ जुड़े हुए हैं। उन्होंने अपनी विनम्रता और सहजता से आचार्यश्री तुलसी के मन को भी आकृष्ट किया और मुझे भी आकृष्ट किया। अभी इनका विशेष अध्ययन व विकास का समय है, पर कार्य की बहुलता से उसमें बाधा भी आती है। इनको जितना अवकाश मिलना चाहिए, वह मैं पूरा नहीं दे पाता। इस दृष्टि से मैं पूरा न्याय नहीं कर पाता हूं। पर ये सहिष्णु हैं, कभी कुछ नहीं कहते। मेरे सामने भी आगम - संपादन, साहित्य, प्रेक्षाध्यान, जीवनविज्ञान, अहिंसा-प्रशिक्षण आदि कुछ बड़े-बड़े कार्य हैं और साथ ही अवस्था भी कुछ कारण बनती है। इन्हें पांच वर्ष पूरे हो रहे हैं। इस अवधि में इन्होंने मेरा बहुत सहयोग किया है। मैं चाहता हूं वह सहयोग भी बना रहे और विकास के लिए अवकाश भी निकालें। ये अपनी गुणवत्ता का और विकास करते हुए पूरे धर्मसंघ की गुणवत्ता बढ़े—इस दृष्टि से प्रयास करें।

(2002)

× × ×

एक महत्त्वपूर्ण शब्द है— परीक्षा। परीक्षा का महत्त्व एक जौहरी ही जान सकता है। पढ़ाई की परीक्षा से भी ज्यादा कठिन है व्यक्ति की परीक्षा। कुछ व्यक्ति साधारण होते हैं और कुछ असाधारण। जन्म के समय असाधारण कोई नहीं होता। बाद में कुछ व्यक्ति असाधारण बन जाते हैं। असाधारण वह बनता है, अथवा उसी को असाधारण बनाया जा सकता है, जिसमें क्षमता होती है। गुरु अव्यक्त क्षमता को व्यक्त कर देते हैं।

सफलता के लिए आवश्यक है—स्वार्थ का विसर्जन। आचार्य पद के योग्य वही होता है, जिसमें परार्थ की चेतना होती है। महाश्रमण हमेशा संघीय दृष्टि से सोचते हैं। इनमें समर्पण और करुणा का भाव है। व्यक्ति के प्रति समर्पण की अपेक्षा लक्ष्य के प्रति समर्पण का ज्यादा महत्त्व है। हमने इनको संघनिष्ठा, लक्ष्यनिष्ठा, करुणा, कार्यकौशल आदि अनेक कसौटियों पर कसा। भविष्य में क्या होना चाहिए, इस संदर्भ में मैंने और गुरुदेव ने काफी चिंतन किया।

(2004)

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

निहारते रह गए। कितनी निर्गर्विता, कितना समर्पण! सच यह है कि युवाचार्यवर कभी अधिकार की भाषा में नहीं बोलते। कभी अनधिकार चेष्टा नहीं करते। यदि कुछ कहना होता है तो उनकी शब्दावली सदा यही होती है—'मैं पूज्यवर की अनुज्ञा से ही यह सब कह रहा हूं।'

यही नहीं, उनके अबोले समर्पण भाव को देखकर स्वयं आचार्यवर श्री महाप्रज्ञजी ने श्रीडूंगरगढ़ की विशाल परिषद् में 27 अप्रैल, 2005 को फरमाया—'महामना स्वामीजी ने हेमराजजी स्वामी की विलक्षण प्रतिभा और समर्पण भाव को देखकर अपने यशस्वी उत्तराधिकारी भारीमालजी से कहा—'भारमल! तुम भाग्यशाली हो। तुम्हें हेमड़ा मिल गया।'

उक्त प्रसंग को अपने साथ जोड़ते हुए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने आगे कहा— आज स्वामीजी मुझे भी कह रहे होंगे—'महाप्रज्ञ! तुम भाग्यशाली हो। तुम्हें भी 'महाश्रमण' के रूप में हेमड़ा मिल गया।'

गुरु-मुख से यह जो कृपा-प्रसाद युवाचार्यश्री महाश्रमणजी को मिला—उनके सर्वात्मना समर्पण भाव का ही प्रतिफलन है। गुरु-आदेश मिलने के बाद उनके मन में कहीं शंका-संदेह की दरार नहीं रहती। तर्क-वितर्क का कोई ज्वार शेष नहीं रहता और न कोई उपचार-व्यवहार ही रहता है। 'तहत' के सिवाय वे कोई शब्द-प्रयोग ही नहीं करते। एकलव्य-सी ऐसी गुरुभक्ति देखकर किसी का मन अनायास ही अपना नमन प्रस्तुत कर दे तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।

लकीर के फकीर नहीं

शुद्ध साधुता की सफेद चादर में लिपटा उनका तन और मन पवित्रता का पावन पाथेय प्रतीत होता है। प्रवचन हो या प्रशिक्षण, प्रेरणा देनी हो या प्रोत्साहन, परिचय की परिक्रमा हो या परिचर्चा का प्रतिचरण—वे 'संयम बढ़े आपरो पर रो' की चेष्टा में ही संलीन रहते हैं। वैराग्य बढ़े—इस दृष्टि से नित्यप्रति आगमों का स्वाध्याय करने के लिए आकर्षण पैदा करते हैं। प्रतिक्रमण और अर्हत् वंदना को विधिवत और भावक्रियापूर्वक करने के लिए वातावरण बनाते हैं। विकास की मीनार तक पहुंचने के लिए संघनिष्ठा और गुरुनिष्ठा के सोपानों पर आरोहित होने की आवश्यकता बतलाते रहते हैं।

पर, वे लकीर के फकीर नहीं हैं। जिंदगी के सवालों

इस दुनिया में कुछ सार्वभौम नियम होते हैं और व्यक्ति उन नियमों से चाहे-अनचाहे संचालित व प्रभावित भी होता है। मेरा जन्म हुआ और दीक्षा भी हो गई। दीक्षा के कुछ समय बाद मुझे निरंतर गुरुसन्निधि में रहने का मौका मिलने लगा। धीरे-धीरे मैं अंतरंग कार्यों से भी जुड़ गया। गुरुदेव श्री तुलसी के पास रहने, सोने, सेवा करने का भी मुझे अवसर मिला। गुरुदेव के महाप्रयाण के पश्चात् दो-तीन माह का समय मेरे लिए काफी कठिनाईभरा रहा। वह समय भी पार हो गया। उसके बाद निरंतर आचार्यश्री का सान्निध्य प्राप्त हो रहा है। अब तो बातचीत का भरपूर मौका मिलता रहता है।

हम आचार्यवर के जीवन से बहुत-कुछ सीख सकते हैं। कैसे अहिंसात्मक व्यवहार हो? कैसे अहिंसात्मक प्रशासन किया जाए? बात कैसे की जाए? प्रवचन कैसे किया जाए? इन सारे रहस्यों को हम आचार्यश्री से सीख सकते हैं। आचार्यवर का आध्यात्मिक मार्ग-दर्शन हमें दीर्घकाल तक प्राप्त होता रहे!

(2002)

× × ×

भाद्रव शुक्ला द्वादशी के दिन के साथ हमारे संघीय इतिहास के अनेक पृष्ठ जुड़े हुए हैं। मेरे जीवन के विकास में पूज्य गुरुदेव श्री तुलसी का बहुत बड़ा योग रहा है। मेरे लिए उनका अंतिम वाक्य था—तुम्हें महाप्रज्ञजी के पास जाना है और वहां कार्य करना है।

मुझे आचार्यवर का सान्निध्य प्राप्त हुआ है और आज भी प्राप्त हो रहा है। मुझे आचार्यप्रवर की सन्निधि में अध्ययन का भी सौभाग्य प्राप्त हुआ है। वह शिष्य भाग्यशाली होता है, जो गुरु की सन्निधि में निश्चिंत होता है। मुझे आपश्री के उपपात में रहकर लंबे समय तक कुछ प्राप्त करने का सौभाग्य मिलता रहे।

मैं अभी आपका 43 वर्षों का शिष्य हूं। आप अपने 83 वर्ष के युवाचार्य को साथ लेकर सिरियारी में चातुर्मास कराएं, ऐसी मेरी भावना है।

(2004)

—युवाचार्यश्री महाश्रमण

को हल करने के लिए वे केवल जोड़ और बाकी को ही पर्याप्त नहीं मानते, गुणा और भाग को भी बराबरी का दर्जा देते हैं। क्योंकि उन्हें अपने अस्तित्व का बोध है। उनके पास क्षीर-नीर का पृथक्करण करने वाली हंस-मनीषा है। उनकी समझ की आंख आसमान में टिकी है, पर पैर जमीन पर स्थिर हैं। वैचारिक प्रौढ़ता और व्यवहार में मृदुता का दामन थामे हुए वे आत्मशुद्धि के अभियान को तीव्र वेग देने में संलग्न हैं; उसके लिए नित नए आयाम उद्घाटित करते रहते हैं।

यही कारण है कि जब साध्वीप्रमुखाश्री कनकप्रभाजी ने आपसे निवेदन किया कि लोच की निर्जरा में संभागी बनने का अवसर प्रदान करें, तो स्मितवदन युवाचार्यश्री ने कहा—सुखे-सुखे विहार करो। समणी प्रतिमाप्रज्ञाजी ने निवेदन किया—'युवाचार्यवर! स्वाध्याय-ध्यान आदि कुछ भी...।' उनके विशेष अनुनय पर युवाचार्यश्री ने कहा—'एक दिन बिना बात किए विहार करना, इससे बहुत निर्जरा होती है।' उस समय कुछ बाल-मुनि युवाचार्यवर की उपनिषद् में समासीन थे। उन्होंने अपनी बात कही—'आज तो युवाचार्यश्री ने अभिनव प्रयोग करवाया है। ऐसा निर्देश पहले कभी नहीं सुना।' उनकी टिप्पणी पर सभी विहंस उठे।

ऐसे एक नहीं, अनेक प्रसंग हैं जो युवाचार्यश्री महाश्रमणजी की आत्मनिष्ठा, गुरुनिष्ठा, संघनिष्ठा, अनुशासननिष्ठा, संयमनिष्ठा, आचारनिष्ठा, विचारनिष्ठा, व्यवहारनिष्ठा, संस्कारनिष्ठा के मील के पत्थर बने हैं।

> तेरापंथ संघ एक सतत विकासशील धर्मसंघ है। आचार्य भिक्षु, जयाचार्य, आचार्य तुलसी और आचार्य महाप्रज्ञ ने इस संघ को मूल्यमानक दिए हैं, नई अवधारणाएं दीं हैं। उन मूल्यमानकों के आधार पर युवाचार्यश्री को नई क्रांति का सूत्रपात करना है। आस्था, समर्पण, विनम्रता और श्रमशीलता जैसी अनेक विशेषताओं का पुंज है युवाचार्यश्री का व्यक्तित्व। अपेक्षा यही है कि युवाचार्यश्री की ये विशेषताएं पूरे धर्मसंघ में संक्रांत हों।
>
> (2002)
>
> **—साध्वीप्रमुखाश्री कनकप्रभा**

अनमोल विरासत

भारतीय संस्कृति और परंपरा के इतिहास पर एक नजर डाली जाए तो वहां शिव की शक्ति, मीरां की भक्ति, गणेश की सिद्धि, चाणक्य की बुद्धि, शारदा का ज्ञान, कर्ण का दान, राम की मर्यादा, भीष्म का वादा, उर्मिला का त्याग, द्रौपदी का भाग, हरिश्चंद्र की सत्यता, कुबेर की सदाशयता-संपन्नता के गौरव-गीतों की अनुगूंज अनवरत सुनाई देती है। इसी परिप्रेक्ष्य में तेरापंथ संघ की अनमोल विरासत आचार्य पट्टावली और गुणावली का मूर्तरूप देखना चाहें तो युवाचार्यश्री महाश्रमण उनके प्रतीक पुरुष हैं। उनमें आचार्य भिक्षु की अध्यात्मनिष्ठा, आचार्य भारीमालजी का समर्पण, आचार्य रायचंदजी की पवित्रता, आचार्य जीतमलजी की स्थितप्रज्ञता, आचार्य मघराजजी की पापभीरुता, आचार्य माणकलालजी की संघ-विस्तार की अभिकांक्षा, आचार्य डालगणीजी की ओजस्विता, आचार्य कालूरामजी का संयम और संस्कृति-प्रेम, आचार्य तुलसी का पुरुषार्थ और आचार्य महाप्रज्ञ की करुणा जीवंत हैं। ❖

कृपया ध्यान दें

जैन भारती के लिए रचनाएं भेजते समय कृपया निम्नोक्त बिंदुओं का अवश्य ध्यान रखें—

- आपकी रचना कम से कम 1500-2000 शब्दों से लेकर 2500-3000 शब्दों के मध्य हो। कुछेक आलेख जैन भारती के एक पृष्ठ से भी कम आकार के होते हैं, जो हमारे लिए अपर्याप्त हैं। जैन भारती के लिए ऐसे आलेख काम में लेना संभव नहीं। अतः इतने छोटे आलेख न भेजें।
- रचनाएं 'फुल स्केप' कागज पर एक तरफ हाथ से लिखी या टाइप की हुई हों। पूरा हाशिया अवश्य छोड़ें। दो पंक्तियों के बीच भी पर्याप्त स्थान होना जरूरी है।
- फोटोकॉपी न भेजें अथवा सुस्पष्ट हो तो ही भेजें।

कृपया उपरोक्त हिदायतों की ओर पूरा ध्यान देकर हमें सहयोग करें।

यह एक निर्विवाद तथ्य है कि हिंसा का धर्म से कोई तादात्म्य नहीं हो सकता। वह अतीत में भी भिन्न था, वर्तमान में भी भिन्न है और भविष्य में भी यह द्वैत बना रहेगा। आचार्य भिक्षु समयज्ञ थे। वे मौलिकता को सुरक्षित रख कर समय की गति के साथ चलने की कला से भिज्ञ थे। इसलिए वे इच्छित लक्ष्य को प्राप्त हो गए। जहां केवल मौलिकता को सुरक्षित रखने के मनोभाव का आरोहण होता है और समय की गति के साथ तादात्म्य स्थापित कर चरणों को गतिशील करने का प्रयत्न नहीं होता, वहां मौलिकता भी रूढ़ि बन जाती है। आचार्य भिक्षु समय की नब्ज को पहचानते थे, अतः उन्हें काल के थपेड़ों से संत्रस्त और हतोत्साहित नहीं होना पड़ा।

—❑—

❑ वैचारिक क्रांति के प्रतिष्ठापक ❑

❀ मुनि संबोधकुमार ❀

सत्य सहज ही प्राप्य नहीं है। उसे प्राप्त करने के लिए असीम पुरुषार्थ और समत्व-दर्शिता आवश्यक है। जिसकी दृष्टि पुरुषार्थ से अभिसिंचित और तितिक्षा से आलोड़ित हो जाती है, वह सत्य के समीप पहुंच जाता है। आग्रह की चट्टानें सचाई के निर्झर की प्राप्ति में सबसे बड़ी बाधा हैं। तटस्थ, अनाग्रही सोच के दर्पण में ही यथार्थता प्रतिबिंबित होती है। आचार्य भिक्षु सत्य के महान पुजारी थे। अनुभव के धरातल पर उतर कर उन्होंने न केवल सत्य का अन्वेषण किया, अपितु जीवन-व्यवहार के स्तर पर आत्मोत्कृष्ट पुरुषार्थ भी किया।

आचार्य भिक्षु चरमोत्सव
भाद्रपद शुक्ला त्रयोदशी
(16 सितंबर '05)

आचार्य भिक्षु नैसर्गिक तर्क-प्रधान बुद्धि के अधिष्ठायक थे। वे हर विचार को, सिद्धांत को तर्क की तुला में तोलकर ही सचाई का सदा आरोहण करते। रूढ़-परंपरावादी सिद्धांत उन्हें कदापि मान्य नहीं थे। उनकी दार्शनिक बौद्धिकता भ्रांतियों से जन्मी अंधश्रद्धा के सम्मुख समर्पण नहीं कर पाती थी। आचार्य भिक्षु यह जानते थे कि संघर्ष के बीहड़ पथ पर चले बिना सचाई की उपलब्धि संभव नहीं। इसी महान लक्ष्य को सम्मुख रख कर सत्य का अनुसंधान करने हेतु वे एक नवीन मार्ग पर अग्रसर हो गए। साधना के उत्तुंग शिखर तक गति करते-करते एक दिन उन्हें वह अभीष्ट और काम्य प्राप्त हो गया। बोधि, सचाई की अनुभूति और उन्हें साधना का मर्म ज्ञात हो गया था। अध्यात्म की पवित्रता के ओट में फैलने वाली कुप्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करने वाले धार्मिकों की निषेधात्मक मनःस्थितियों को वे समझ गए थे। उनका हृदय इस वक्र व्यवहार से प्रकंपित हो गया था। दिग्भ्रांत धर्म विश्लेषकों के विचारों को सचाई का दिशा-दर्शन कराने के लिए उनकी चेतना का प्रदीप प्रज्वलित हो उठा था। भीतरी जगत से उद्भूत प्रवाह उनका दर्शन बन गया। उसी दर्शन से मानव मस्तिष्क पर जमी धर्म की निर्मूल व्याख्याओं पर प्रहार कर अध्यात्म की पारदर्शिता का पुनर्अवतरण किया। कालांतर में वह आलोक-पुंज विश्व-वंद्यः दार्शनिक आचार्य भिक्षु बन गए।

आचार्य भिक्षु दर्शन : एक दृष्टि

आचार्य भिक्षु पहले एक साधक थे, फिर दार्शनिक और नेतृत्वकर्ता। जो केवल साधक या नेतृत्वकर्ता होता है, वह यथार्थ के सन्निकट नहीं पहुंच सकता। यथार्थ के समीप पहुंचने हेतु मार्ग-बोध की आवश्यकता होती है।

जिसे मार्ग का अवबोध नहीं होता, वह भ्रमित हो जाता है, इष्ट तक नहीं पहुंच सकता। दर्शन एक मार्गसूचक यंत्र है। उसके आधार पर लक्ष्य की उपलब्धि सहज सुलभ बन जाती है। आचार्य भिक्षु ने धर्म को पढ़ा, उसकी अंतस्तल गहराइयों तक प्रस्थान करने का प्रयत्न किया और पुरुषार्थ सार्थक बन गया। तेरापंथ के दर्शन ने मानव मन को झंकृत कर दिया। संप्रदाय होते हुए भी तेरापंथ संप्रदायातीत धर्म के रूप में मान्य हो गया।

आचार्य भिक्षु के दर्शन का मूल आधार था—महावीर वाणी। महावीर ने जो कहा वो ही भिक्षु का दर्शन बना। महावीर के विचार भिक्षु की साधना के आधार-स्तंभ बन गए। महावीर और भिक्षु सापेक्षतः एकात्मक हो गए। भिक्षु ने नवीन कुछ भी नहीं किया, उन्होंने केवल अतीत को वर्तमान बनाया। महावीर के विचारों को युग-सापेक्ष भाषा से अलंकृत कर युग के सामने प्रस्तुत किया। उन्होंने लिखा—

ग्यान दरसण चारित तय बिना,
और मुगति रो नहीं उपाय हो,
छोड़ा मेला उपगार संसार नां,
तिण थी सद्गति किण विध जाय हो

अनुकंपा री चौपाई

ज्ञान, दर्शन और चारित्र की सम्यक् आराधना धर्म की यथार्थ कसौटी है। जो आचार, जो क्रिया आत्मा को संत्रस्त करे, मनोभावों को संत्रस्त करे, वह धर्म की परिधि में कदापि प्रतिष्ठित नहीं हो सकता। धर्म लोक-व्यवहार से सर्वथा भिन्न है। लौकिक दान, दया के साथ उसका सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न निरर्थक और मतिभ्रम जैसा है। धर्म आत्म-शुद्धि का साधन मात्र है। यह एक निष्काम क्रिया है। निष्काम को कामनापूर्ति और अभिलाषा-पूर्ति का साधन नहीं बनाया जा सकता है। अधोगामिता से विमुक्त कराने वाले सुपात्रदान और आत्म-रक्षा का साधन ही यथार्थ दान और दया है। अवशिष्ट लौकिक कर्तव्य हैं। आचार्य भिक्षु के दस दर्शन के आम्नाय प्रतिपक्षी भावनाओं को जन्म देने वाले सिद्धांत नहीं है, किंतु धर्म की यथार्थ छवि की प्रस्तुति है।

आचार्य भिक्षु अहिंसा के पर्याय थे। उन्होंने अहिंसा को अध्यात्म का प्रवेश मार्ग बताते हुए लिखा था—आज का धार्मिक हिंसात्मक प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित कर उन्हें धर्म का आभूषण पहनाने का प्रयत्न कर रहा है। किंतु, यह आर्षवाणी है कि अहिंसा ही अध्यात्म की आत्मा है। उसे धर्म से विलग नहीं किया जा सकता है। लौकिक कर्तव्य जहां एक ओर प्रतिष्ठा का प्रश्न प्रस्तुत करता है, वहां दूसरी ओर प्रत्यक्ष-परोक्षतः हिंसा को प्रोत्साहित भी करता है। धर्म से यदि हिंसा का मैत्रीय संबंध स्थापित हो जाए तो जल-मंथन से भी नवनीत का उद्भव संभाव्य है। इस बात का स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य भिक्षु ने लिखा—

हिंसा में यदि धर्म हुवे तो जल मंथियां घी आवे

यह एक निर्विवाद तथ्य है कि हिंसा का धर्म से कोई तादात्म्य नहीं हो सकता। वह अतीत में भी भिन्न था, वर्तमान में भी भिन्न है और भविष्य में भी यह द्वैत बना रहेगा। आचार्य भिक्षु समयज्ञ थे। वे मौलिकता को सुरक्षित रख कर समय की गति के साथ चलने की कला से भिज्ञ थे। इसलिए वे इच्छित लक्ष्य को प्राप्त हो गए। जहां केवल मौलिकता को सुरक्षित रखने के मनोभाव का आरोहण होता है और समय की गति के साथ तादात्म्य स्थापित कर चरणों को गतिशील करने का प्रयत्न नहीं होता, वहां मौलिकता भी रूढ़ि बन जाती है। आचार्य भिक्षु समय की नब्ज को पहचानते थे, अतः उन्हें काल के थपेड़ों से संत्रस्त और हतोत्साहित नहीं होना पड़ा।

तितिक्षा के प्रतीक पुरुष

महावीर की साधना का मौलिक सूत्र था—सहिष्णुता। इसी सूत्र को आधार बना कर महावीर सर्वज्ञ बने। आचार्य भिक्षु ने महावीर का अनुसरण किया। साधना पथ पर आरोहण करने से पूर्व अपने मन को उस प्रखर साधक ने साध लिया था। साधना के कष्टबहुल पथ पर आरूढ़ होने वाले साधक को स्व-मनःस्थिति के अनुसार साधना अनिवार्य हो जाती है। विचार, परिस्थितियों के समक्ष जिसकी मानसिकता झुक जाती है, वह सार्थक उत्कर्ष तथा उन्नयन नहीं कर सकता। आचार्य भिक्षु ने मन को साधने का प्रथम प्रयोग कैर के उबले हुए कड़वे पानी को पीकर किया। वह पानी संभवतः साधनाकाल में उन्हें दोबारा ग्रहण करने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ, किंतु वह एक प्रयोग था, मनःस्थिति को तटस्थ बनाने का प्रयोग। वे इस प्रयोग में शत-प्रतिशत उत्तीर्ण हुए। महावीर की भांति जीवन की विरोधाभासी परिस्थितियों में भी भिक्षु तितिक्षु बने रहे।

शेष पृष्ठ 35 पर

यह संकल्प पुष्ट बने कि वैर-विरोध का विसर्जन करना है और क्षमा का सर्जन करना है। जरा सोचें कि वैर-विरोध की जीवन-शैली में सुख कहां है? तत्त्ववेत्ता बतलाते हैं कि इसी जीवन में भावी जीवन का निर्धारण हो जाता है। वर्तमान जीवन से ही भावी जीवन बनेगा। यदि इस महापर्व पर मन की गांठें नहीं खुलीं तो यह जीवन निस्संदेह गतरस हो जाएगा और भावी जीवन भी खतरे में पड़ जाएगा। यह दिन तो निर्ग्रंथ बन जाने का सुनहरा अवसर देता है। मानसिक प्रसन्नता चाहने वालों को भीतर की गांठें खोल ही देनी चाहिए। जीसस क्राइस्ट के शब्दों में हर व्यक्ति को बच्चे की तरह सरल रहना चाहिए। आगम-वाणी का निर्देश है कि सरलता से ही आत्मा की विशोधि होती है। इस रहस्य को जान लेने के बाद कुटिलता का पोषण कैसे हो सकता है!

❑ क्षमा : जीवन का अमृत ❑

❀ मुनि मदनकुमार ❀

जैन धर्म का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पर्व है पर्युषण। यह वर्ष में एक ही बार आता है और अत्यंत भावोत्कर्ष के साथ मनाया जाता है। पर्युषण पर्व का शुभागमन मन के मैल को धोने के लिए होता है। मनुष्य अपना तन तो प्रतिदिन स्वच्छ कर लेता है—शुद्ध शीतल जल से, खुशबूदार साबुन से, सुगंधित विलेपन से और महकदार इत्र-फुलेल से। किंतु, मन की स्वच्छता की ओर बहुत कम ध्यान जाता है। मन की निर्मलता के बिना तन की साज-सज्जा का क्या मूल्य है? यदि किसी का तन तो फूल जैसा कोमल, पर मन पत्थर की तरह कठोर हो तो वैसा व्यक्ति दूसरों के किस काम का है? परिवार और समाज का संबंध व्यक्ति के मन के व्यवहार से होता है, न कि उसके तन के आकर्षण से।

पर्युषण महापर्व पर विशेष

यह प्रश्न स्वाभाविक है कि मन को निर्मल एवं कोमल कैसे बनाएं? जैन आगम मनुष्य को पर्युषण पर्व के माध्यम से मन को स्वच्छ करने का अवसर और प्रेरणा प्रदान करते हैं। वे कलुषित मन के परिमार्जन हेतु उपवास, पौषध, प्रतिक्रमण, आत्म निरीक्षण और खमत-खामणा जैसे महत्त्वपूर्ण क्रिया-कलाप करने का निर्देश करते हैं। पर्युषण का मूल तत्त्व खमत-खामणा है। अतः पर्युषण और क्षमा का अन्योन्याश्रित साथ कहा जाए तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

शरीर के धोने और साफ-सुथरा करने का कार्य तो नित्य-प्रतिदिन चलता है, किंतु मन को स्वच्छ करने का अवसर संवत्सरी के पावन दिवस पर वर्ष में एक बार ही आता है। अतः अत्यंत जागरूकतापूर्वक इस शुभ अवसर का लाभ उठाना चाहिए। जिस तरह एक व्यक्ति अपने शरीर को पूर्ण तत्परता से स्वयं ही साफ करता है, उसी प्रकार से अपने मानस-मंदिर की सफाई भी उसे दृढ़ संकल्प के साथ करनी चाहिए। मानना चाहिए कि बारह महीनों में मन भी कुछ मैला हुआ ही होगा। मन में तनाव और दुराव पैदा हुए होंगे। कभी दूसरों के प्रति क्रोध का ज्वालामुखी फूटा होगा, तो कभी किसी के प्रति घृणा-द्वेष के दुर्भाव उबले होंगे। कभी किसी को फंसाने के लिए कुटिल जाल फैलाया होगा, तो कभी किसी का अनिष्ट करने के लिए कोई कुचक्र चलाया होगा। ये सभी दुर्भावनाएं हिंसा व पापाचार की प्रतीक हैं। कभी-कभी मनुष्य आवेशावस्था में किसी के साथ अशोभनीय बर्ताव कर बैठता है। समयांतर पर उसे इसका बड़ा पश्चात्ताप भी होने लगता है। अपने आचरण की शुद्धि का एक सुगम उपाय है—पर्युषण पर्व, जो हमें अपनी भूलों को सुधारने

का एक अवसर प्रदान करता है। इस शुभ दिन क्यों नहीं हम अपने अनाचारों व दुर्व्यवहारों से आहत व्यक्तियों से क्षमा-याचना कर लें! अपने द्वारा किए गए अतिक्रम-व्यतिक्रम, अतिचार-अनाचार के लिए क्षमा मांगने के साथ ही अनजाने में हुए अपराधों के लिए क्षमा-याचना करना भी सज्जनता का प्रतीक है। इसे आत्म-शोधन की दिशा में उठा हुआ कदम मानना चाहिए। किंतु, अनुभव के आधार पर कहा जाता है कि सरल मन से क्षमा मांगना बड़ा ही कठिन कार्य है। यह दुष्कर है, तभी तो 'क्षमा वीरस्य भूषणम्'—क्षमा वीरों का भूषण है—कहा गया है।

क्षमा-याचना के लिए अहंकार का विसर्जन आवश्यक होता है। यह सबके लिए सहज नहीं है। आग्रह और अहंकार की स्थिति में याचनाकर्ता अपनी न्यूनता का अनुभव करता है, क्योंकि उसके अहंकार को ठेस लगती है। क्षमा-याचना जैसा शुभ कृत्य तो केवल उत्तम आत्माएं ही कर सकती हैं। ठीक इसी तरह हंसते-हंसते क्षमा प्रदान करने वाले व्यक्ति भी महान ही होते हैं। यह सच है कि धन का दान अपेक्षाकृत सरलता से किया जा सकता है, परंतु क्षमा का दान इतना आसान नहीं है। मन में गांठें रखने वाले व्यक्ति क्षमा-दान नहीं कर सकते। केवल अध्यात्म की धवल धारा ही हमारे हृदयों को शुद्ध कर हमें क्षमाशील और अंतर्मुखी बना सकती है। 'क्षमा-याचना' व 'क्षमा-दान' दोनों ही पावन कृत्य हैं। इस दिव्य अनुष्ठान से आनंद के कमल खिल उठते हैं, खुशियां झूमने लगती हैं और मन के मयूर नाच उठते हैं। इन्हीं मधुर भावनाओं से मानव-समाज में शांति, सद्भाव, प्रेम व बंधुता का अभ्युदय होता है।

क्षमा की आराधना के लिए ही पर्युषण पर्व अष्टाह्निक रूप में मनाया जाता है। आगम-विधान के अनुसार पर्युषण पर्व एक-दिवसीय है, किंतु आचार्यों की दूरदर्शिता ने इस पर्व को अष्ट-दिवसीय बनाया है। वर्तमान में संपूर्ण जैन समाज इस पर्युषण पर्व को आठ दिवस तक जप-तप के आध्यात्मिक अनुष्ठान के साथ अत्यंत आस्था-श्रद्धा के साथ मनाता है। इस पर्व का अंतिम दिन संवत्सरी महापर्व कहलाता है। इस संपूर्ण पर्व का प्राणतत्त्व है—विग्रह का शमन और मैत्री का विकास। जैन धर्म निर्ग्रंथ-प्रवचन है। इसीलिये इसका सर्वाधिक बल ग्रंथि विमोचन पर है। संवत्सरी महापर्व मन की गांठों को खोलने का अत्युत्तम अवसर है। भीतर की गांठों का खुलना एक चमत्कार है। इससे मानसिक प्रसन्नता में अतिशय अभिवृद्धि होती है। निस्संदेह मन की शुचिता सबसे बड़ा वरदान है।

संवत्सरी पर्व को मैत्री का पर्व ही कहना चाहिए। शत्रुता को मित्रता में बदलने के लिए इससे बढ़िया पर्व कौनसा होगा? शत्रुता का भाव जहां ग्रंथि बना देता है, वहां मित्रता का भाव ग्रंथि को खोल देता है। शत्रुता अभिशाप है। शत्रुता अपशकुन है और शत्रुता आत्म-पतन का मार्ग है। शत्रुता की भावना सामने वाले का नुकसान करे या न करे, स्वयं का नुकसान जरूर कर देती है। जब तक भीतर की गांठ नहीं खुलेगी तब तक शत्रुता की भावना बनी रहेगी। यह गांठ शरीर और मन, दोनों, को रुग्ण बना देती है। जो स्वास्थ्य को पाना चाहे और रुग्णता को मिटाना चाहे, उसे इस अवसर का लाभ उठा ही लेना चाहिए। वर्ष-भर में जान-अनजान में की गई भूलों को भूलने का और क्षमा के आदान-प्रदान का यह सर्वोत्तम पर्व है। मन में आई कटुता और कल्मष को बाहर निकालकर ही इस पर्व को सही अर्थ में मनाया जा सकता है। क्षमा की आराधना करने वाले को ही ज्ञानी समझना चाहिए। इस अवसर पर क्रोध को विफल कर देना ही महानता की निशानी है। निस्संदेह विग्रह-शमन और मैत्री-विकास के द्वारा जीवन-शैली को उच्चता प्रदान की जा सकती है।

यह संकल्प पुष्ट बने कि वैर-विरोध का विसर्जन करना है और क्षमा का सर्जन करना है। जरा सोचें कि वैर-विरोध की जीवन-शैली में सुख कहां है? तत्त्ववेत्ता बतलाते हैं कि इसी जीवन में भावी जीवन का निर्धारण हो जाता है। वर्तमान जीवन से ही भावी जीवन बनेगा। यदि इस महापर्व पर मन की गांठें नहीं खुलीं तो यह जीवन निस्संदेह गतरस हो जाएगा और भावी जीवन भी खतरे में पड़ जाएगा। यह दिन तो निर्ग्रंथ बन जाने का सुनहरा अवसर देता है। मानसिक प्रसन्नता चाहने वालों को भीतर की गांठें खोल ही देनी चाहिए। जीसस क्राइस्ट के शब्दों में हर व्यक्ति को बच्चे की तरह सरल रहना चाहिए। आगम-वाणी का निर्देश है कि सरलता से ही आत्मा की विशोधि होती है। इस रहस्य को जान लेने के बाद कुटिलता का पोषण कैसे हो सकता है!

अनुभव की वाणी है—मन चंगा तो कठौती में गंगा। इस उक्ति में गागर में सागर जैसा सार भरा हुआ है। हम इसे अपनाएं। क्षमा शुद्धि, सिद्धि और चिकित्सा का सोपान है। क्षमा महान तप है। जो क्षमा की साधना करता है, वह अमृततुल्य बन जाता है। दुख को सुख में बदलने के लिए

क्षमाशील बनना जरूरी है। पूर्ण निःशल्यता के लिए क्षमा याचना के समान ही क्षमादान भी आवश्यक होता है। इसीलिए 'खमत-खामणा' शब्द दोनों भावों का वाहक माना गया है। सच्चे मन से क्षमा का आदान-प्रदान वीर-वृत्ति है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि एक मास तक भूखा रहना सरल है, किंतु क्रोध-विजय कठिन साधना है। इस बात की पुष्टि में श्रीमज्जयाचार्य ने लिखा है—

मास मासखमण तप करे निरंतर,
इतरा कर्म कटै इक छिन में रे।
वचन कुवचन सहै समभावा,
राग द्वेष न आणै मुनि मन में रे।।

क्षमा में जीवन का सार भरा हुआ है। जो क्षमा का जीवन जीना जानता है, वही आनंद को प्राप्त करता है। जीवन-व्यवहार में आई कटुता और कुटिलता को त्याग कर ही क्षमा का आदान-प्रदान किया जा सकता है। धर्म का मूल सम्यक् दर्शन है और सम्यक् दर्शन का मूल क्षमापना है। मन की गांठों को खोलने से ही आध्यात्मिक प्रसन्नता और विकास संभव है। प्रेक्षा-प्रणेता आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के शब्दों में—'खमत-खामणा आराधना का महत्त्वपूर्ण सूत्र है। उसका तात्पर्य है कि किसी भी व्यक्ति के प्रति तुम्हारे मन में असहिष्णुता का भाव आ जाए, कलुषता का भाव जाग जाए—उसे ज्ञात हो या नहीं, वह जाने या न जाने—तुम अपनी ओर से क्षमा मांग लो, सहन कर लो। अपनी मैत्री को मत खोओ। उसे शत्रु मत मानो। यह महान व्यक्तित्व की प्रक्रिया है। आराधना का महत्त्वपूर्ण सूत्र है—मैत्री का विकास। मैत्री की आराधना का अर्थ है—शक्ति की आराधना। सहिष्णुता एक शक्ति है। शक्ति की जब तक उपासना नहीं होती, मैत्री का भाव स्थाई नहीं हो सकता। कमजोर आदमी दिन में सौ बार मैत्री का संकल्प करता है और शत्रुता के भाव को मन से निकाल देता है। फिर परिस्थिति आती है और उसके चित्त पर शत्रुता का भाव छा जाता है। यह चित्त का आकाश कभी निर्मल नहीं होता। उसको निर्मल करने के लिए सहिष्णुता की शक्ति चाहिए, निर्मलता की शक्ति चाहिये।' इसीलिए क्षमा जीवन का अमृत है। यही क्षमा का मर्म है। ❖

वैचारिक क्रांति के प्रतिष्ठापक पृष्ठ 32 का शेष

प्रतिकूल परिस्थितियां उनकी तपःसाधना के समक्ष पराजित हो गईं। अतीत साक्षी है कि भीखण को अभिनिष्क्रमण के बाद में पांच वर्ष तक पूर्णरूप से आहार प्राप्त नहीं हुआ, विरोधीजनों के शब्द और हस्त-प्रहार भी सहन करने पड़े। तथापि वे अविचल, निष्प्रकंप रहे। उनकी साधना की यह प्रखरता थी। यदि काल का हस्तक्षेप नहीं होता तो आचार्य भिक्षु उत्कृष्ट तितिक्षा से प्रेरित होकर आत्मा की चरम स्थिति को प्राप्त कर सर्वज्ञ बन जाते।

निर्वाण दिवस की मनोवैज्ञानिकता

श्रीमद्भगवद्गीता के सूत्र 'जातस्य हि ध्रुवं मृत्यु' को एक विकसित नाड़ी और ग्रंथितंत्र से संपन्न मानव कदापि अस्वीकार नहीं कर सकता। आदमी इस वैश्विक सिद्धांत से परिचित है कि जो उदित होता है, उसे अस्ताचल की ओर जाना ही पड़ेगा। जिसने जन्म के सिद्धांत को स्वीकार किया है, उसे मृत्यु के नियम को स्वीकार करना होगा। शरीर अशाश्वत है, उसे किसी भी उपक्रम से शाश्वत नहीं बनाया जा सकता है। वह अशाश्वत था, अशाश्वत है और अशाश्वत ही रहेगा। समता के प्रखर प्रहरी महावीर भी इसके अपवाद नहीं थे, तो वैचारिक क्रांति के प्रतिष्ठापक आचार्य भिक्षु भी इसके अपवाद नहीं थे। वे महितल पर आए, ज्योतिर्मय जीवन जीया, और अनंत में विलीन हो गए। भिक्षु भी एक मानव थे। मानव की भांति ही उन्होंने जन्म लिया और मृत्यु को प्राप्त हुए। फिर उनके मृत्यु-दिवस को निर्वाण-दिवस का अलंकरण क्यों? क्या वे निर्वाण को उपलब्ध हुए? क्या वे वीतराग पुरुष थे? ये सभी प्रश्न आज भी मस्तिष्क में तरंगित होकर अंतर्जगत को सुलझाकर शाश्वत समाधान का आलोक दे सकते हैं। आचार्य भिक्षु वैचारिक क्रांति के महान सूत्रधार थे। व्यक्ति मरणधर्मा है, वह मृत हो जाता है, किंतु क्रांतिकारी विचारों की मृत्यु कभी भी नहीं होती। जिस व्यक्ति के विचार और व्यवहार काल-धर्म संप्राप्ति के पश्चात् भी युग को पाथेय प्रदान करते रहें, युगीन समस्याओं का समाधान देते रहें, वह व्यक्ति मृत होकर भी अमरत्व को प्राप्त कर लेता है। उनके विचारों में मानवीय सभ्यता की सुरक्षा का शाश्वत पाथेय, उनकी मृत्यु को निर्वाण में परिणत कर देता है। दो शताब्दियों के पश्चात् भी आचार्य भिक्षु के विचार मानवता की सुरक्षा को सबल पाथेय प्रदान कर रहे हैं। अपेक्षा है कि ये विचार मात्र विचार तक ही सीमित न रहें। ❖

दूसरे दिन पार्टी के दफ्तर गई तो चारों ओर मेरी प्रशंसा हो रही थी। उस प्रशंसा से और समय होता तो मन फूल उठता, पर कल से जाने कौन-सा कांटा मेरे मन में रह-रहकर चुभ रहा था और मैं पूरी तरह खुश नहीं हो पा रही थी। कब से शेखर की उपेक्षा करती आ रही थी, पर उस ओर से नितांत बेखबर होकर बार-बार मुझे उनकी उपेक्षा का ध्यान आ जाता और मन सुलग उठता। बार-बार सोचती, जब परीक्षा का मौका आया तो सारा आदर्शवाद झड़ गया। ये पुरुष होते ही ऐसे हैं—अंदर से कुछ, ऊपर से कुछ। मैंने तो शादी के पहले ही साफ-साफ कह दिया था कि दुनिया की कोई ताकत मुझे पार्टी से अलग नहीं कर सकेगी। अब पार्टी का काम करती हूं तो इसमें मुंह फुलाने की क्या बात है?

—❑—

❑ हार ❑

❀ मन्नू भंडारी ❀

कल से रह-रहकर बचपन में पढ़ी एक कहानी याद आ रही है। ईसाइयों की एक पौराणिक कथा पढ़ी थी कि देवताओं ने शैतान को किसी अपराध के कारण मर्त्यलोक में ढकेल दिया। बहुत गिड़गिड़ाने पर एक शर्त रख दी कि जब मर्त्यलोक के सब प्राणी आकर उसकी मुक्ति की प्रार्थना करेंगे तभी वह शापमुक्त हो सकेगा। बेचारा शैतान दिलोजान से यह कोशिश करता है कि संसार के सारे प्राणी उसकी मुक्ति की प्रार्थना करें, पर देवताओं के शाप के साये के नीचे दिन-रात वह लोगों को ईश्वर के खिलाफ भड़काया करता, और लोग उसकी ओर आकर्षित हो ईश्वर से दूर होते जाते। जितना वह उन्हें ईश्वर के समीप लाना चाहता, उतना ही उन्हें दूर ले जाता, और अपनी बेबसी पर मन ही मन घुटता, कुढ़ता; पर कुछ न कर पाता। लगता है, ऐसे ही किसी शाप की छाया मुझ पर भी पड़ी हुई है, नहीं तो कल जो-कुछ हो गया वह क्या संभव था? कल से न जाने कितनी बार सोच चुकी हूं कि इस बात को भूल जाऊं, घोटकर पी जाऊं, जिससे कोई जान भी न पाए, पर लगता है कि यदि इसे उगल न दिया तो यह बात ही मुझे पी जाएगी।

और कल की इस स्थिति तक पहुंचने के पहले कितना-क्या कर आई हूं, उसकी भी एक झलक दिखा ही दूं। मध्यम वर्ग के परिवार की एक लड़की की तरह मेरा बचपन भी हंसते-खेलते, लाड़-दुलार की छाया में बीता। मां-बाप की इकलौती बिटिया, जिद और हठ जन्म के साथी। घर में लक्ष्मी की असीम कृपा चाहे न रही हो, पर सरस्वती की अपार कृपा-दृष्टि थी और घर का सारा वातावरण ही साधारण परिवार से नितांत भिन्न था। पिताजी अत्यंत स्वतंत्र प्रकृति के बुद्धिजीवी व्यक्ति थे, और स्वच्छंदता मैंने उनसे विरासत में पाई थी। पिताजी यों किसी भी राजनीतिक दल के सदस्य नहीं थे, पर सभी दलों में बेहद दिलचस्पी रखते, और सबकी बड़ी खरी आलोचना भी करते थे। उनके पास नगर की विभिन्न पार्टियों के प्रमुख लोग रोज ही आया करते थे, और घंटों बहसें हुआ करतीं। कभी-कभी दो विरोधी दल के लोग आ जुटते तब तो घर बहस का अखाड़ा हो जाया करता था। मैं जब नहीं समझती थी तब भी बराबर ऐसे समय में पिताजी के पास बैठा करती थी, और जब समझने लगी तब तो उनकी अनुपस्थिति में भी लोगों को बिठाकर बातचीत, बहस, आलोचना करती थी। खून की गर्मी कहिए या उम्र का दोष...पार्टी की बातें मुझे बहुत अपील करती थीं, और धीरे-धीरे मैं जान ही नहीं पाई कि मैं कब पार्टी की मेंबर बन गई और उसमें सक्रिय रूप से भाग लेने लगी। पिताजी को मेरे इस कार्य से कोई एतराज नहीं था, बस दो बातों के लिए सदा सचेत करते रहते थे—एक तो मैं अपनी पढ़ाई

कहानी

की उपेक्षा न करूं, दूसरे किसी भी पार्टी या वाद की सीमाओं में बंधकर अपने को इतना संकीर्ण न बना लूं कि दिमाग के सब पर्दे ही बंद हो जाएं।

उनकी बातों का पालन कहां तक कर सकी, सो तो खुदा ही जाने, पर इतना जानती हूं कि जरा जिम्मेवारी का काम मिलने के बाद मुझ पर पार्टी का नशा-सा छा जाता था। बात यह सन् 45 के अंतिम दिनों की है। आजाद हिंद फौज के करिश्मे पढ़-पढ़ाकर सारी जनता बावली हो रही थी। हड़ताल, जुलूस, सभाओं का बाजार गर्म था। कॉलेज के छात्र-छात्राओं में जोश का ऐसा ज्वार आया था कि बिना मतलब ही ब्लेड से अंगूठे काट-काटकर एक-दूसरे के या नेताजी की तस्वीर पर खून का तिलक करते फिरते थे, और महसूस करते थे कि अपने इस हौसले के काम से आजादी की लड़ाई को उन्होंने एक कदम और आगे बढ़ा दिया है। कॉलेज के अधिकारियों की इच्छा के खिलाफ और हिदायत कर देने के बावजूद एक बड़ी सभा मैदान में हुई। सारी बात तो इस समय ठीक याद नहीं, पर वक्ता महाशय की किसी बात का मैं बड़े जोरों से विरोध कर उठी। वह मुझे शेर की तरह घूरने लगे और मेरे तर्क का उत्तर (जो कि शायद उनके वश के बाहर की बात थी) दिए बिना ही मुंह पर अपार घृणा लाकर झिड़कते हुए कहा, 'अब लड़कियों से राजनीति के मामले में बहस कौन करे—राजनीति की ए बी सी डी भी तो जानती नहीं।'

'हां, राजनीति का ठेका तो आप लोगों ने ले रखा है न? भेड़ियाधसान की भांति काम करते हैं और राजनीति की डींग हांकते हैं।' मैं बौखला उठी।

खैर, उनका जो कार्यक्रम था वह हुआ और खूब जोर-शोर से हुआ। पर मेरे मन में लड़कियों की राजनीतिक बुद्धि को लेकर जो ताना दिया गया था, वह कुछ ऐसा चुभ गया कि मैं उसे कभी भूल न सकी। राजनीति को ही जीवन का क्षेत्र बनाने का जो संकल्प था वह दृढ़ से दृढ़तर हो गया। पर, इस बात को मैंने महसूस किया कि सचमुच लड़कियों की राजनीतिक बुद्धि पर लोग अधिक विश्वास नहीं करते। हमारी पार्टी के कितने ही सदस्य इस बात को घुमा-फिराकर जब-तब मेरे कानों में पहुंचा ही दिया करते थे, और सुनकर मेरा खून खौल जाया करता था। जब-कभी कोई बड़ी जिम्मेदारी का काम देने की बात चलती तो लड़कियों का नाम उस लिस्ट में से गायब हो जाता। अधिक बहस करो तो कहते, 'लड़कियों की नेकनीयती पर संदेह नहीं, पर जरा भावुक किस्म की होती हैं न, कहीं घर की याद आ जाए और रोने बैठ जाएं तो सब चौपट हो जाए। इसके अतिरिक्त भी पचास तरह की झंझटें हैं, लड़कियों को हर काम में साथ लेकर चलने में।' और यह सब सुनकर लगता कि या तो मैं पार्टी-वार्टी सब छोड़ दूं या कुछ ऐसा कर गुजरूं जिससे सदा-सदा के लिए इनका मुंह बंद हो जाए। पर उस समय तो मैं दोनों में से एक भी काम नहीं कर सकी।

तभी जीवन ने एक और मोड़ लिया। मैंने विवाह करने का निश्चय किया। सभी सोचते थे कि मैं अपनी पार्टी के किसी सदस्य से विवाह करूंगी, पर जब सबने देखा कि मैंने एक विरोधी पार्टी के सदस्य को अपना जीवन-साथी चुना है तो उनके आश्चर्य और कौतूहल का ठिकाना न रहा। पार्टी वालों ने तो एतराज भी किया, पर मैंने साफ कह दिया कि यह मेरा व्यक्तिगत मामला है, जिसमें मैं पिताजी के अतिरिक्त और किसी को हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं देती। साधारण परिचय से कैसे यह व्यक्ति मेरे जीवन का अभिन्न अंग बन गया था, यह स्वयं एक लंबी गाथा है, पर बिल्कुल मेरी अपनी। आप इतना भर जान लें कि विवाह से पहले हमने खूब अच्छी तरह एक-दूसरे को परख लिया था। राजनीतिक विचारों का कट्टरपन पूरी तरह से एक-दूसरे पर जाहिर कर दिया था, और साथ ही साथ यह भी साफ कर लिया था कि शादी के बाद भी हम बदस्तूर अपनी-अपनी पार्टियों का काम करेंगे और कभी भूलकर भी अपने विचार दूसरे पर लादने की चेष्टा नहीं करेंगे।

पिताजी इस विवाह को लेकर काफी सशंक थे, पर उन्हें दो वर्ष में ही अच्छी तरह आश्वस्त कर दिया कि मैंने यह चुनाव करके भी कोई गलती नहीं की। पार्टी के लोग तो यह समझे बैठे थे कि विवाह के बाद ही मैं पति का ग्रामोफोन रेकॉर्ड बनकर उनकी पार्टी के, उनके विचारों के गुण गाने लगूंगी, पर शादी के बाद भी जब मैं पहले की तरह ही, बल्कि और भी अधिक लगन से अपनी पार्टी का काम करने लगी तो सचमुच ही मैं सबके आश्चर्य का विषय बन गई। हम दोनों पति-पत्नी अपने-अपने विचारों पर विश्वास रखते थे, और यह संबंध उसमें किसी प्रकार की भी बाधा उपस्थित नहीं कर सका। हां, कभी-कभी घर में बहस जरूर हो जाया करती थी, पर वह गरमा-गरमी तक पहुंचे उसके पहले ही शेखर उसे

मजाक का रुख देकर वातावरण के तनाव को कम कर देते थे। यों हम दोनों में अपार स्नेह था, पर पार्टी की गुप्त बातें हम कभी एक-दूसरे को नहीं बताते। इस मामले में हमारी एक सीमा थी, जिसका अतिक्रमण कोई नहीं करता। आश्चर्य तो यह था कि न हमारे काम में ही किसी प्रकार की शिथिलता आई, न हमारे संबंध में ही किसी प्रकार की कटुता। दोनों चीजें समानांतर रेखाओं की भांति अलग-अलग चल रही थीं—पर साथ-साथ, और कभी टकराती नहीं थीं।

तभी चुनाव आ पहुंचे। आजादी के बाद पहला चुनाव। बड़ा जोश था, बड़ी गर्मी। साल-भर पहले से ही सभी पार्टियां अपना-अपना रंग जमाने की कोशिशों में जुटी हुई थीं। जब व्यक्तियों के चुनने का सवाल आया तो पार्टी से मुझे खड़ा होने के लिए कहा गया। मैंने साफ इनकार कर दिया, और कहा कि आप किसी और योग्य व्यक्ति को खड़ा कीजिए, उसे जिताने में मैं अपनी जान लड़ा दूंगी, पर खड़ी मैं नहीं होऊंगी। खैर, सबकी राय से अंत में अजीत मित्रा को टिकट देने का निश्चय किया गया, और चुनाव की तैयारी जोर-शोर से आरंभ हो गई। दो दिन बाद ही शेखर ने आकर बताया कि उनकी पार्टी की तरफ से वे खड़े हो रहे हैं—सुनकर ही मेरा माथा ठनका। मन का भाव चेहरे पर आ गया तो वे बोले—

'तुम्हें यह बात शायद अच्छी नहीं लगी!'

'नहीं, यह बात तो नहीं; सोच रही थी अभी तक तुम्हारी पार्टी की ही विरोधिनी थी, अब तुम्हारा भी विरोध करना पड़ेगा। तुम हारो यह भी नहीं चाहती, और तुम जीतो यह तो कभी भी नहीं चाहती। कुछ उल्टा-सीधा हो जाए और तुम जबरदस्ती ही बुरा मान जाओ तो ठीक नहीं।'

'अरे बुरा क्या मानना? फिर यह विरोध कोई मेरा विरोध तो होगा नहीं, क्योंकि मैं अपनी निजी हैसियत से खड़ा नहीं हो रहा हूं, सो वह विरोध तो पार्टी का ही होगा। और वह तो तुम शुरू से ही करती आई हो, कोई नई बात इसमें नहीं होगी। फिर बीसवीं सदी के हर पढ़े-लिखे स्त्री-पुरुष को इस की पूरी स्वतंत्रता है कि वह अपने निजी विचार रखे, और उनको अमल में लाने के लिए तहेदिल से कोशिश करे।'

'तुम्हारी ऐसी उदारता देखकर ही तो मैं दिलोजान से तुम पर मर मिटी थी।' और फिर जान-बूझकर ही हमने बातचीत का विषय बदल दिया।

करने को चाहे हम बड़े-बड़े आदर्शों की बात कर गए, पर मैंने देखा कि ज्यों-ज्यों चुनाव की गर्मी बढ़ती जाती थी, त्यों-त्यों मन में कुछ तनाव आता जा रहा था। एक दिन पार्टी के दफ्तर में बैठे-बैठे किसी ने ताना कस दिया कि मुझ पर अधिक विश्वास नहीं किया जाए क्योंकि 'घुटने तो पेट की तरफ ही मुड़ते हैं।'

पार्टी के प्रति मैं चाहे कितनी ही वफादार होऊं, आखिर पति तो पति ही है—और ऐसा पति, जिस पर मुझे नाज था, और जिसकी मैं सदा भूरि-भूरि प्रशंसा किया करती थी। सुना तो आग लग गई। इच्छा तो हुई कोई कड़वी-सी बात कहकर मन का गुबार निकाल लूं, पर वहां तो कुछ कर नहीं सकी, और गुस्सा निकाला घर आकर शेखर पर—

'कल हम लोगों ने एक बहुत बड़ी सभा का आयोजन किया है, तुम्हारी कसकर धज्जियां बिखेरने वाली हूं, कान खोलकर सुन लो अभी से, नहीं तो कल फिर भिनभिन करोगे।'

'अरे बाबा! तो कल सभा में धज्जियां बिखेरना, अभी से क्यों बिखेर रही हो?'

और दूसरे दिन सचमुच ही उचित-अनुचित का विवेक खोकर अपने पति के खिलाफ ऐसा जोरदार भाषण दे दिया कि ताना कसने वाले मित्र को उसी समय आकर मुझसे क्षमा मांगनी पड़ी। उस भाषण की सफलता ने मेरा हौसला बढ़ा दिया, लोगों पर उसका काफी प्रभाव पड़ा। लोगों के पास सबसे बड़ी दलील यही थी कि हमारी पार्टी में जरूर ही कोई अच्छी बात है तभी तो सोने जैसे पति की निंदा करते भी लड़की हिचकिचाई नहीं। नहीं तो औरत के लिए पति का विरोध करना कोई सरल काम नहीं। अब तो आए दिन सभाएं होने लगीं—और मैं खुलेआम अपने पति की पार्टी की और कभी स्पष्ट और कभी अस्पष्ट रूप से शेखर की बुराई करने लगी। भाषणों में जोश रहता था, और बोलने का ढंग ऐसा कि सुनने वाला एक बार तो मेरी बात का कायल हो ही जाता था। पार्टी के सभी सदस्य मुक्तकंठ से मेरी प्रशंसा करते और मैं फूली फिर रही थी। व्यस्त इतनी हो उठी कि घर और पति की सुध लेने का समय ही नहीं रहा। शेखर भी अपने काम में व्यस्त और मैं भी; चार-पांच दिन तक मिल भी नहीं पाते। जब साथ बैठने का अवसर

आता तब भी बातचीत आजकल बंद-सी हो गई थी। उनकी यह बेरुखी मुझे भाती तो नहीं, पर मैं परवाह भी नहीं करती थी। मन में कभी कुछ कशमकश भी चलती तो यह कहकर समझा देती कि विचारों का संघर्ष है, यों हम आज भी एक-दूसरे को उतना ही स्नेह करते हैं।

चुनाव के कुल पंद्रह दिन रह गए। इस चुनाव-क्षेत्र में दोनों पार्टियों ने अपनी पूरी ताकत लगा दी थी। कोई अनुमान नहीं लगा सकता था कि परिणाम क्या होगा! टक्कर बहुत जोरदार थी और फिर एक ओर पति, और दूसरी ओर पत्नी के होने से सब लोगों के आकर्षण का केंद्र बन गई थी। हमारी विरोधी पार्टी के पास साधन थे और सुविधा थी। वे लोग पानी की तरह पैसा बहा रहे थे, और हमारे कितने ही काम पैसे की वजह से रुके पड़े थे। कार्यकर्ताओं की कमी नहीं थी—लोग रात-दिन एक करके खून-पसीना बहाकर काम कर रहे थे, पर पैसा कहां से आए! एक-एक चुनाव के लिए जितना कोटा मिला था वह समाप्त हो चुका था, उससे अधिक ही खर्च हो चुका था, फिर भी पैसे की आवश्यकता बनी ही थी। आखिर निर्णय किया गया कि सब सदस्य ही सामर्थ्य-भर सहायता करें। यदि संभव हो सका तो पार्टी बाद में अदा कर देगी। मैं घर पहुंची। मेरी निजी संपत्ति कुछ भी नहीं थी, शेखर से मांगना उचित भी नहीं था। और कोई रास्ता न देखकर अपने पिता के यहां से मिले जेवरों का बक्स मैंने पार्टी के हवाले कर दिया। शेखर को भी यह बात मालूम पड़ी, पर वे बोले कुछ नहीं। यों भी मैं जेवर पहनती नहीं थी। न उसका शौक था, न आवश्यकता। फिर अभी तो जैसे जीने-मरने की बाजी लगी हुई थी, जेवरों की क्या बिसात!

दिन सरकते जा रहे थे और मेरा पागलपन बढ़ता जा रहा था। सवेरे जल्दी ही निकल जाती, घर-घर जाकर लोगों को समझाना, बस्तियों में जाकर लोगों के मन में अपनी पार्टी के लिए सहानुभूति पैदा करना और उन्हें अपने पक्ष में करना, बस यही काम था। शेखर से बात किए भी कई दिन हो गए थे, पर वह सब-कुछ मैंने उठाकर ताक पर रख दिया था। आखिर तीन दिन बाकी रह गए। शाम को मैं किसी काम से घर आई। देखा, शेखर भी बैठे हैं, किसी काम में व्यस्त थे। उन्होंने एक क्षण को मेरी ओर आंख उठाकर देखा, और बिना एक शब्द बोले फिर काम करने लगे। जाने क्यों, मुझे यह उपेक्षा चुभ गई। मैं भी चेहरे पर अत्यंत लापरवाही का भाव लिए अपने कमरे में चली गई और खट से दरवाजा बंद करके लेट गई। सवेरे से घूमते-घूमते पैर बुरी तरह दर्द कर रहे थे, उस पर से खाना-पीना भी समय पर नहीं हो पाता था; सो आराम करने को जी ललक उठा। लेटी तो शेखर की वह उपेक्षित दृष्टि आंखों के सामने घूम गई। सोचने लगी, चाहे कोई कितना ही उदार हो, आखिर पुरुष पुरुष ही है। वह बस यही चाहता है कि नारी उसी का अनुसरण करे। कहने को ये बड़ी-बड़ी बातें करते थे, पर जब मौका आया तो सहा नहीं गया—तभी किसी ने दरवाजा खटखटाया। सोचा शेखर ही होंगे, पर खोला तो देखा, पार्टी का एक सदस्य खड़ा था। वह जल्दी में था, और छूटते ही उसने कहा—'सौ रुपये दे सकेंगी आप?'

'सौ रुपये? रुपये तो मेरे पास अब बिलकुल नहीं हैं, जो-कुछ जेवर थे वह भी दे आई।'

'कहीं से इंतजाम भी नहीं कर सकतीं? इतनी जरूरत है कि क्या बताऊं? रुपये न होने से बड़ी गड़बड़ हो जाएगी।'

तभी मुझे अपने एक हार की याद आई। विवाह के बाद शेखर ने मुझे बड़े दुलार से वह हार लाकर उपहार-स्वरूप दिया था। पति के स्नेह में उस हार को निकालते समय एक बार मेरा हाथ कांप गया, पर दूसरे ही क्षण मैंने वह हार उसके हाथ पर रख दिया। हार लेते उसका मन जैसे गवाही नहीं दे रहा था, और जब मेरे मुंह से उसने यह बात सुन ली कि यह मेरे पति का प्रेमोपहार है तो लौटाते हुए बोला, 'नहीं, नहीं, तब नहीं। रहने दीजिए और कहीं से देखूंगा।'

'अरे, क्या पागलों जैसी बात करते हैं आप भी। मैं तो इन थोथी भावुकता की बातों में जरा भी विश्वास नहीं करती!' फिर इस समय तो मेरे मन में शेखर के प्रति आक्रोश भी भरा हुआ था, सो जबरदस्ती हार देकर उसे विदा किया।

उसके जाते ही शेखर ने बुलाकर पूछा, 'वह हार दे दिया तुमने?'

'हां,' मैंने तिनककर कहा, 'हमारी पार्टी को रुपयों की सख्त जरूरत थी।'

'अरे मैं कोई सफाई थोड़े ही मांग रहा हूं, यों ही पूछ बैठा था।'

शेष पृष्ठ 45 पर

मुनि लोकप्रकाश 'लोकेश' की कविताएं

पुनरुक्त कथन

इतना-कुछ कहा है हमने
इस जगत से
पाया है सब यहीं से
तराशा, निखारा है
अपना हर अभिधान
किया है संप्रेषित
उस बहकी हुई भीड़ तक
जो त्याग रही है
सुनने का अपना सामर्थ्य।

फिर कर रहा हूं मैं आज
उन्हें ही संबोधित
जो घिरे हुए हैं अपनी ही
मन की श्यामिका से
चुन-चुन कर ओढ़ते हैं जो
जगत के अभिशाप
स्वीकारते हैं सारी दुविधाएं
उन्हीं तक पहुंचाना है
मुझे मेरा संबोधन
आने वाले कल के लिए
भीतर रही है कांक्षा यही सदा।

मेरी विवक्षा में रहा है
यह भाव-भरा बोध
कि बदल पाते हैं वे ही
अपना जीवन-पथ
जो रखते हैं सुनने का सामर्थ्य
इसलिए होता हूं मैं
हर बार उनके सम्मुख
अपने पुनरुक्त कथन के साथ
कि जीवन नहीं यह
अंधेरे की एक यात्रा
यह स्वीकारोक्ति है चुनौती की,
सुनो, बदलो, कुछ करो
धारो वही पथ
जो है लोक का आलोक
जगत के अभिशापों से मुक्त।

मन के उस पार

कोई सीमा-रेखा नहीं होती
मन की उड़ानों की
न कोई तय दायरा है त्वेष का,
चल पड़े हैं जो लोग
मन की थाह पाने को
वे अंततः पहुंच जाते हैं
उस गहराई तक
जहां अनुत्तरित नहीं रह जाते
मन और जीवन के प्रश्न
जहां आलोकित परिदृश्य
कह जाता है अपनी सारी बात।

मन संशय का घर बना है
प्रश्न हैं असंख्य
समाधान नहीं होता वहां
जहां की जाती है
केवल मन से समाधान की खोज
सत्य को दरकिनार कर,
असीम मन के साथ
नहीं भरी जा सकती है
इस जीवन में कभी उड़ान।

समाधान की उपवीथिका पर
चलना पड़ता है अंततः
छोड़ कर मन का अपना साथ,
जहां से अपरिमेय प्रश्नों की
गुजरती हैं शृंखलाएं
एक के बाद एक समाधान
स्वतः आते हैं सम्मुख
संशय का वह विस्तृत क्षेत्र
कहा जाता है जिसे मन
होता है सत्य का आकांक्षी
किंतु मन के उस पार तक
निकलना पड़ता है हमें
अपने यत्नों की डोर थामे
एक त्वेष के साथ
खुलती हैं वहीं पर सारी गांठें।

गुबार में

एक काफिला गुजर गया
इस दुरूह घाटी से
निकल चुका है बहुत दूर तक
देख रहे हैं कुछ पांखी
पेड़ों की डालों पर
अब भी घाटी के रास्तों को
उड़ती हुई धूल के गुबार को।

इस निर्जन घाटी से अब तक
न जाने कितने काफिले
गुजर चुके हैं सीना ताने
कई पहुंच चुके होंगे
उस मंजिल तक
जहां के लिए चले थे वे
और मौन घाटी अब भी
सहेजे है स्मृतियों को
क्योंकि घाटी है काफिलों के लिए
और काफिले हैं
मंजिल पाने के लिए
हम कहां हैं यह देखना है हमें
एक गुबार में खो जाने तक। ❖

शीलन

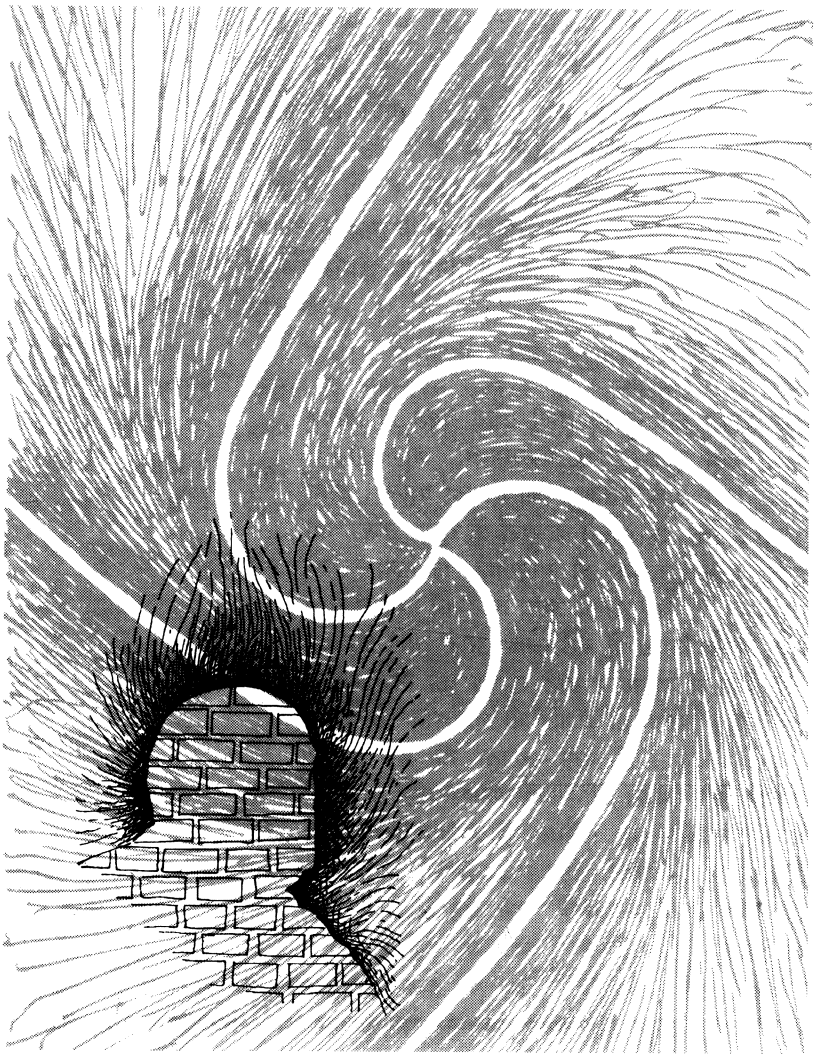

नए भारत की रचना तभी ठीक तरह से संभव होगी जब हम अपनी परंपराओं, मान्यताओं, धारणाओं और स्वभाव को समझ पाएंगे। कहा जाता है कि महाभारत के युद्ध के बाद, उसमें जो हुआ और उससे जो परिणाम निकला, उन्हें समझने के लिए हमारे ऋषि व दूसरे विद्वान वर्षों तक नैमिषारण्य में बैठे और आने वाले भविष्य को केंद्र में रखकर बीते समय को समझने में लगे रहे। आज का समय भी महाभारत के उक्त काल से कुछ मिलता-जुलता ही है। हमारी परंपराओं, दर्शन और गए समय पर, आज का ध्यान रखते हुए, विचार आवश्यक है। इसके लिए 3-4 नए विद्या-केंद्र स्थापित हों तो भविष्य में कैसे क्या करना है, हम यह निश्चित कर सकेंगे।

—धर्मपाल

सत्त्वगुण में बुद्धि है और इसलिए हिंदुस्तान अगर सत्त्वनिष्ठा का संकल्प लेगा, तो वह बलशाली होगा। आज दुनिया हिंसा से इतनी परेशान है कि इस तरह के संकल्प के लिए विचारवान लोगों के मन अनुकूल हो गए हैं। इस दशा में हिंदुस्तान का संकल्प सारी दुनिया में फैल सकता है। ऋषभदेव ने अहिंसा का मतलब सिखाया कि जितना प्रेम खुद पर करते हैं, उतना ही प्रेम भगवान की सारी सृष्टि पर करो। एक विचार के तौर पर सब लोग इसे मानते हैं। परंतु, अमल में नहीं ला सकते। इसलिए शास्त्रकारों ने बीच की राह निकाली, ताकि लोगों को आहिस्ता-आहिस्ता सब से प्यार करने की तालीम मिल सके।

—❑—

❑ अहिंसा : आत्मवत् सर्वभूतेषु ❑

❀ आचार्य विनोबा भावे ❀

अहिंसा की खोज करना मेरा जीवन-कार्य रहा है। जितना संभव हो सके, देह से, संस्थाओं से और पैसे से अलग रहकर काम करने की मेरी वृत्ति रही, इसी तलाश में कि अहिंसा की सामाजिक जीवन में किस प्रकार प्रतिष्ठा हो।

आज हमारा देश और दुनिया इस हालत में हैं कि इधर अहिंसा पर विश्वास है और उधर हिंसा की ताकत छोड़ नहीं सकते। परंतु हमारे देश की विशेषता यह है कि हमारी सभ्यता और गांधीजी के कारण अहिंसा-शक्ति पर कुछ अधिक विश्वास है। इसलिए अगर सामाजिक समस्याएं अहिंसा-शक्ति से हल करने की कोई युक्ति मिल जाती है, तो हिंदुस्तान और दुनिया के लिए वह अत्यंत आवश्यक है। मेरे मन में यही बात थी कि अहिंसा के शोध में अपनी बुद्धि लगाएं। यह केवल बुद्धि का ही सवाल नहीं, इसमें अपना जीवन भी अर्पण करना होगा, हृदय की वृत्ति तन्मय करनी होगी। अगर हम अपनी पूरी ताकत जनशक्ति के विकास में, अहिंसा-शक्ति की खोज में लगाएंगे, तो हमारा देश ऊपर उठेगा, यह हमारा दृढ़ विश्वास है।

11 सितंबर
जन्म जयंती पर विशेष

हिंदुस्तान की आध्यात्मिक संस्कृति पर ज्यों ही पश्चिम के विज्ञान का रंग चढ़ा, त्यों ही उसमें एक नया विचार निर्माण हुआ, जिसे हम 'सामूहिक अहिंसा' कहते हैं। यह हिंदुस्तान के आध्यात्मिक विचार और पश्चिम के विज्ञान के संयोग से हुआ है। जहां आत्मा के दर्शन होते हैं, वहां हमारे जीवन में न्यूनाधिक प्रमाण में अहिंसा आ ही जाती है। फिर भी अब तक वह सामूहिक नहीं हो पाई थी, क्योंकि विज्ञान के कारण आज मानव-समाज एक-दूसरे से जितना संबद्ध हो गया है, उतना पहले के जमाने में नहीं हुआ था।

पश्चिम के विज्ञान और हिंदुस्तान के अध्यात्म के संयोग से सामूहिक अहिंसा का आविर्भाव हुआ और हमने अहिंसा से स्वराज्य प्राप्त किया। अब पूरब की बारी आई है कि वह पश्चिम को सामूहिक अहिंसा का विचार पहुंचाए। पूरब से पश्चिम को सामूहिक अहिंसा का विचार जाने का आरंभ तो हमारे अहिंसा से स्वराज्य प्राप्त करने से ही हो गया है। भूदान-यज्ञ में कंजूस भी दान दे रहे हैं, यह विनोबा का पुण्य नहीं, एक महान विचार है, जो विज्ञान के कारण पैदा हुआ है। इसे हम ईश्वरीय इच्छा ही मानते हैं।

कहते हैं कि वशिष्ठ के आश्रम में शेर और बकरी एक घाट पर एक साथ पानी पीते थे। हमारे काम की खूबी यही है कि हम शेर को अहिंसा और बकरी को शौर्य सिखाना चाहते हैं। दोनों को एक साथ रखने की कीमिया और शक्ति इस काम में है। इसीलिए हमने कहा कि यह युगधर्म काम कर रहा है। पश्चिम से विज्ञान आया

और अब पूरब से सामूहिक अहिंसा बनकर वहां जाएगी, इसमें मुझे कोई शक नहीं, चाहे इसमें सैकड़ों वर्ष ही क्यों न लग जाएं।

लोग मुझे पूछते हैं—दुनिया में हिंसा की हवा बह रही है, हिंदुस्तान उससे कैसे बचेगा? मैं उनसे कहता हूं, हिंदुस्तान में हम अहिंसा की हवा निर्माण करेंगे, दुनिया उससे कैसे बचेगी? दुनिया का मुझ पर असर होता है, ऐसा कहने वाले से मैं कहता हूं—अरे बुद्धू, दुनिया का अगर मुझ पर असर होता है, तो मेरा भी दुनिया पर असर होता है, इतनी बात भी तू नहीं समझता? और इस दुनिया में सत्त्वगुण की जो ताकत है, वह रजोगुण या तमोगुण में हो ही नहीं सकती। जिसका बल सत्त्वाधिष्ठित है, उसी का परिणाम सारी दुनिया पर होगा।

सत्त्वगुण में बुद्धि है और इसलिए हिंदुस्तान अगर सत्त्वनिष्ठा का संकल्प लेगा, तो वह बलशाली होगा। आज दुनिया हिंसा से इतनी परेशान है कि इस तरह के संकल्प के लिए विचारवान लोगों के मन अनुकूल हो गए हैं। इस दशा में हिंदुस्तान का संकल्प सारी दुनिया में फैल सकता है। ऋषभदेव ने अहिंसा का मतलब सिखाया कि जितना प्रेम खुद पर करते हैं, उतना ही प्रेम भगवान की सारी सृष्टि पर करो। एक विचार के तौर पर सब लोग इसे मानते हैं। परंतु, अमल में नहीं ला सकते। इसलिए शास्त्रकारों ने बीच की राह निकाली, ताकि लोगों को आहिस्ता-आहिस्ता सब से प्यार करने की तालीम मिल सके। जैसे हमारा शरीर है, वह हमारा विस्तार है, हम नहीं। हम तो शरीर के अंदर रहने वाले, अंतरात्मा में रहने वाले और इंद्रियों से काम लेने वाले हैं। तनु का विस्तार ही तनय है। संतान शब्द भी तनु से बना है। जैसे संतान तनु का विस्तार है, वैसे ही हमारा समाज भी हमारा ही विस्तार है। यह समझें और उस से प्यार करना सीखें।

अहिंसा का अर्थ क्या है? **आत्मवत् सर्वभूतेषु**—सब पर उतना ही प्यार करो, जितना अपने पर करते हो। जो आत्मा मुझमें है, वही आप में है। इस तरह आत्मा की व्यापकता का जहां दर्शन होता है, वहीं अहिंसा की प्रतिष्ठा होती है। गीता ने अहिंसा के बारे में कहा है कि आत्मा को सब भूतों में समान रूप से देखने पर परमेश्वर की व्यापक सत्ता का भान होता है, फिर आत्मा, आत्मा की हिंसा कर ही नहीं सकता। हम अपनी हिंसा नहीं कर सकते, तब अहिंसा की प्रतिष्ठा होती है।

अहिंसा यानी हिंसा न करना, इतना ही अभावात्मक अर्थ नहीं। उसके तीन अर्थ हैं। पहला अर्थ है—निर्भयता, दूसरा अर्थ है—प्रेम और सहयोग करना और तीसरा अर्थ है—रचनात्मक कार्य में श्रद्धा रखना। अगर हम निर्भय बनते हैं, आत्मशक्ति पर विश्वास रखते हैं, प्रेम और सहयोग से सारे समाज को एकत्र करते हैं तथा रचनात्मक काम में लगते हैं, तभी सच्चे अर्थ में हमारी ताकत बढ़ेगी।

गांधीजी ने हमें एक शाश्वत, चिरस्थाई और मुक्तिदाई विचार दिया है—वह है अहिंसा का विचार। वह विचार चिरकाल तक काम में आने वाला और सारी दुनिया को मुक्ति देने वाला है। अहिंसा अपने देश का भगवान है। अनेक धर्मशास्त्रकार, दर्शनकार, आचार्य, संत-महंत आदि जितने भी इस देश में हुए, वे सब अहिंसा के विषय में सोचते, बोलते और लिखते आए हैं। भारतीयों ने जितना इस विषय पर लिखा, उतना आत्मज्ञान और ईश्वर के अलावा और किसी विषय पर न लिखा, न सोचा, न कहा है। यहां के साहित्य पर उसका असर है। जीवन का कोई भी क्षेत्र उसके असर से अछूता नहीं है। फिर भी गांधीजी ने अहिंसा को हमारे सामने एक वैज्ञानिक ढंग से रखा। उन्होंने कहा—नूतन मानव-जीवन की बुनियाद अहिंसा ही हो सकती है।

भारत की सभ्यता में अहिंसा है, अहिंसा को मानते हैं, लेकिन क्या अहिंसा में उसकी निष्ठा है? इसका निर्णय करने का समय आ गया है। मैं मानता हूं कि अहिंसा में इतनी शक्ति है कि उससे सब काम बन सकते हैं। खुशी की बात इतनी ही है कि वह लुप्त नहीं हुई है, कुछ प्रकट भी है, वैसी श्रद्धा भारत में है। गांधीजी के नेतृत्व में एक छोटा-सा प्रयोग हुआ, और गौतम बुद्ध से लेकर यहां जो परंपरा चली, उसका आध्यात्मिक बल भारत में है; लेकिन अभी तक काफी सोई हुई और थोड़ी गुप्त है। उसे पूर्णतया जगाने और प्रकट करने में समय लगेगा। केवल समय से ही नहीं होगा, उसके लिए कार्यक्रम भी करना होगा। इसके बीच देश शस्त्र-शक्ति के विकास में भी लगा रहेगा। यह बड़ा दुष्ट चक्र है। शस्त्र-शक्ति को ही मौका मिले, तो वह अहिंसा को दूर ढकेल देगी। अब यह काम ऐसी कुशलता से करना होगा कि वीरवृत्ति के विकास के साथ लोगों में अहिंसक-शक्ति का भी उदय हो।

अहिंसा की शक्ति संख्या पर निर्भर नहीं है,

अंतःशुद्धि पर निर्भर है। अहिंसा में गुणों की जरूरत है। यहां अत्यंत गुणवान जो काम करेगा, वह हिंसक नहीं कर सकेगा। इसलिए गुणात्मक फर्क है। कुछ छोटे-छोटे कामों में संख्या की जरूरत भी होती है, लेकिन थोड़ी; बहुत बड़ी संख्या की नहीं। वे अगर पचीस हजार की सेना भेजते हैं, तो हमें पचीस भेजने की जरूरत होगी। कुछ लोगों का खयाल है कि अहिंसा में अनुशासन नहीं है। हम कहना चाहते हैं कि अहिंसा का अर्थ ही अनुशासन है। अहिंसा में अंदर से अनुशासन होता है। जहां अंदर से अनुशासन आता है, वहां बाहर से अनुशासन तो सहज ही आ जाता है। इसलिए हिंसक सेना में कृत्रिमता से अनुशासन लाना पड़ता है। अहिंसा में वह स्वयं-प्रेरणा से होगा। अहिंसा में हृदय-परिवर्तन होता है, इसलिए वे अपनी सारी शक्ति एकत्र नहीं कर पाते और अलग-अलग जगह उसका उपयोग करते हैं। इसलिए दुनिया में टिकते नहीं।

अहिंसा में सारे काम स्वेच्छा से किए जाते हैं। स्वेच्छा से आज्ञापालन कठिन हो जाता है। लेकिन स्वेच्छा भी हो और आज्ञापालन भी, ऐसा कठिन काम सफलता के साथ हमें करना है। तभी कभी-न-कभी हिंसा की जगह अहिंसा ले सकेगी। ❖

***कहानी* : हार** पृष्ठ 39 का शेष

उनकी इस नरमाई से गुस्सा और भी बढ़ गया। मन-ही-मन कहा, सफाई मांगो भी तो यहां कौन देने बैठा है।

दूसरे दिन पार्टी के दफ्तर गई तो चारों ओर मेरी प्रशंसा हो रही थी। उस प्रशंसा से और समय होता तो मन फूल उठता, पर कल से जाने कौन-सा कांटा मेरे मन में रह-रहकर चुभ रहा था और मैं पूरी तरह खुश नहीं हो पा रही थी। कब से शेखर की उपेक्षा करती आ रही थी, पर उस ओर से नितांत बेखबर होकर बार-बार मुझे उनकी उपेक्षा का ध्यान आ जाता और मन सुलग उठता। बार-बार सोचती, जब परीक्षा का मौका आया तो सारा आदर्शवाद झड़ गया। ये पुरुष होते ही ऐसे हैं—अंदर से कुछ, ऊपर से कुछ। मैंने तो शादी के पहले ही साफ-साफ कह दिया था कि दुनिया की कोई ताकत मुझे पार्टी से अलग नहीं कर सकेगी। अब पार्टी का काम करती हूं तो इसमें मुंह फुलाने की क्या बात है? मैं तो मुंह नहीं फुलाती। यही सब सोचते-सोचते और काम करते-करते रात के साढ़े ग्यारह बज गए। कल तो चुनाव ही था। सोचा, घर जाकर थोड़ी देर सो लिया जाए, क्योंकि दूसरे दिन सवेरे पांच बजे से ही लोगों को लाने का काम शुरू करना था।

जैसे ही घर में घुसी, देखा, शेखर के कमरे की बत्ती जल रही है और वे अपने परम प्रिय मित्र से बातें कर रहे हैं। मन में जाने कैसा कौतूहल हुआ बात सुनने का—किसी रहस्य का ही उद्‌घाटन हो जाए; और यह सोच मैं चुपचाप दरवाजे पर जाकर खड़ी हो गई। रोम-रोम कान बनकर अंदर की बातें सुनने लगा।

'पता नहीं क्यों तुम दो-तीन दिन से बड़े खिन्न दिखाई देते हो। अरे, मुझसे शर्त बदलो, जीत तुम्हारी निश्चित है।' मित्र ने कहा।

'इसी का तो गम है भाई, मेरी जीत की संभावना ही मुझे खिन्न बनाए दे रही है। सोचता हूं मैं हार भी गया तो उस लज्जा को सह लूंगा। पुरुष हूं, और सहने का आदी। पर जीत गया तो दीपा का क्या होगा। तुम देखते हो, पगली हो गई है इसके पीछे। वह हार का धक्का बर्दाश्त नहीं कर सकेगी और सच पूछो तो इसीलिए चाहता हूं कि मैं हार जाऊं।' बड़े हताश और बुझे हुए स्वर में शेखर ने कहा।

'क्या पागलों जैसी बातें कर रहे हो! उसको जब तुम्हारी कोई चिंता नहीं, तो तुम क्यों उसकी चिंता से यों गमगीन हुए बैठे हो? तुम्हारी निंदा करने में वह पागलपन की सीमा तक उतर आई थी, यह भी याद है?'

'मुझे उसके इस पागलपन से ही तो प्यार है शर्मा। जब देखता हूं कि लड़कियां भावुकता को परे रखकर किसी बात पर यों खुले दिमाग से सोच सकती हैं तो भारत के सुनहले भविष्य की तस्वीर आंखों में उतर आती है।'

इससे अधिक कुछ भी सुनना मेरे लिए असंभव हो गया। रात कैसे बीती मेरी खुदा ही जानता है। पांच बजे मैं अपने काम पर न जा सकी। ठीक आठ बजे विक्षिप्तावस्था में मैं अपना वोट जाने कैसे अपने पति की पेटी में डाल आई। ❖

जिसने सहना सीखा, उसने रहना सीखा। स्वस्थता और सहिष्णुता का अत्यंत घनिष्ठ संबंध है। एक-दूसरे के अभाव में ये जन्मते नहीं, जन्मते हैं तो पनपते नहीं। स्वस्थ रहने के लिए मानसिक प्रसन्नता की आवश्यकता है। दूध के उफान को जल का छींटा शांत कर देता है। अगर जल का छींटा न मिले तो दूध बाहर निकल आता है।

यही स्थिति मन की है। आवेग आता है, शिराओं में प्रवहमान शोणित को उबाल देता है। सहिष्णुता का छींटा उसे प्रशांत कर देता है। अगर शांत नहीं किया जाए, तो विषाक्त रक्त-कण शरीर को काष्ठगत घुन की तरह खोखला बना देते हैं। परीक्षणों ने यह सिद्ध कर दिया है कि आवेग के समय रक्त-कण विषैले होते हैं। उन रक्त-कणों को शरीर में प्रक्षिप्त करने से तत्काल मृत्यु हो जाती है।

—❑—

❑ क्षमा का उद्भव—आत्मोदय ❑

❁ साध्वी जतनकुमारी 'कनिष्ठा' ❁

मेहंदी के पत्तों को घिसते-घिसते ही उनमें रंग आता है। तपते-तपते ही स्वर्ण में चमक आती है। घर्षण और विलय में रंग आना ही क्षमा है।

कुएं की खुदाई में कंकड़-पत्थर आते हैं। उन कंकड़, पत्थरों के बीच जलधारा का प्रस्फुटित होना क्षमा है।

झाड़ियों के पत्तों पर पाषाणों की जितनी अधिक बौछारें होती हैं, वे उतने ही अधिक मीठे बेर प्रदान करती हैं। पत्थर का जवाब फल से देना क्षमा है।

हिमकण ताप से पिघलते हैं, कपूर उड़ता है और ओले फिसलते हैं। पिघलन, उछलन और फिसलन से बचना ही क्षमा है।

क्षमापना महापर्व विशेष

क्षमा का उद्भव

आत्मा की उदीयमान अवस्था में क्षमा का जन्म होता है। जब तक अग्नि पर छाई भस्म, पानी पर भी छाई हुई शैवाल हटती नहीं, तब तक आग में ज्योति और पानी में पवित्रता प्रकट नहीं होती। इसी प्रकार मानस-रत्न पर सदियों से चढ़ी हुई धूलि के बिना हटे क्षमा का उद्भव नहीं होता।

आत्मा की उदीयमान अवस्था सहज और कृत, दोनों, प्रकारों से होती है। युगों से जलप्रवाह में प्रवहमान पाषाण-खंड सहज ही कोई आकृति और नवनीत-सी चिकनाहट पा लेता है। उसी तरह वनस्पतिकायिक जीव भी शीत, ताप आदि सहते-सहते सर्वोदय की स्थिति में आ सकता है और मानवीय जीवन पा लेता है।

जिस तरह मथते-मथते मक्खन निकल आता है, वैसे ही अभ्यास करते-करते आत्मोदय हो जाता है। आत्मोदय से क्षमा का उद्भव हो जाता है।

हम भलीभांति जानते हैं कि बटन के दबाते ही विद्युत-बल्ब जल उठता है और बंद करते ही बुझ जाता है। मलावरण हटते ही क्षमा की ज्योति जल उठती है और मलावरणों से ही वह मंद हो जाती है।

द्वादश अणुवक्खा गाथा 71 में लिखा है—

'कोहुप्पत्तिस्सपुणो बहिरंग जदि हवेद-सक्खादं'।
कुणदि किंचिवि कोहं, तस्स खमा—होदि धम्मोचि।'

क्रोधोत्पत्ति के चलते हुए भी यदि सामने आने पर जो क्षमा करता है, वह उत्तम क्षमावान कहलाता है। इसी प्रकार कुरल काव्य परिच्छेद संख्या 16/2, 10 में लिखा

है—**तस्मै देहि क्षमादानं, यस्ते कार्य विघातकः। विस्मृति कार्य हानि वां यश्च स्यात्-तदुत्तमा॥** हानि पहुंचाने वाले को क्षमा करें। कार्य में जो हानि हुई, उसे भी भूल जाना उत्तम कोटि की क्षमा है। जिसने क्षमा धर्म को स्वीकार किया है, वह षट्मासिक तप करने वालों से भी महान है।

क्षमा का विकास

यह सच है कि अचाहे की प्राप्ति सरल होती है। दूसरी ओर वांछित को पा लेना और प्राप्य की सुरक्षा करना कठिन होता है। आरोग्य के लिए औषधि के साथ अनुपान, फूलों के उन्मेष के लिए सलिल और बिजली के विस्तार के लिए ट्रांसफॉरमर जरूरी हैं, उसी प्रकार सहिष्णुता के विकास के लिए संवेग की साधना अपेक्षित है। संवेग की साधना से तात्पर्य है—बंधन से मुक्ति पाने की अभीप्सा। देह और इंद्रियों के बंधनों से हम लोह-जंजीरों से बंधे हुए कैदियों की तरह उत्पीड़न पा रहे हैं। इन कष्टों से मुक्त होने का माध्यम है—ममत्व विसर्जन। विसर्जन से ही समत्व सध सकता है, चमक सकता है।

पादप पत्तियों पर अनेक पक्षी अपना घोंसला बना लेते हैं। वे शाखाओं को नोचते हैं, पत्तियों को कुचलते हैं। मगर, वे पादप पत्तियां उन्हें न रोकती हैं, न टोकती हैं। इस सहिष्णुता का नाम ही क्षमा का विकास है।

हम क्यों भूल रहे हैं बाहुबली को, जिन्हें वन्य जंतुओं ने नाना प्रकार की त्रासदी दी। पक्षियों और चींटियों ने भी उन्हें नाना प्रकार के कष्ट दिए, क्लांत किया। फिर भी वे एकाग्रचित्त रहे। किसी भी प्रकार से विचलित नहीं हुए। भगवान महावीर को विषधर ने काटा, भ्रमरों ने लहू-लुहान किया, चरवाहों ने खीर पकाई, पूतना ने आसार जल धाराओं से अभिषिक्त किया। पर वे व्युत्सृष्टकाय होकर सब-कुछ सहते गए, चलित नहीं हुए।

क्षमा और स्वास्थ्य

जिसने सहना सीखा, उसने रहना सीखा। स्वस्थता और सहिष्णुता का अत्यंत घनिष्ठ संबंध है। एक-दूसरे के अभाव में ये जन्मते नहीं, जन्मते हैं तो पनपते नहीं। स्वस्थ रहने के लिए मानसिक प्रसन्नता की आवश्यकता है। दूध के उफान को जल का छींटा शांत कर देता है। अगर जल का छींटा न मिले तो दूध बाहर निकल आता है।

यही स्थिति मन की है। आवेग आता है, शिराओं में प्रवहमान शोणित को उबाल देता है। सहिष्णुता का छींटा उसे प्रशांत कर देता है। अगर शांत नहीं किया जाए, तो विषाक्त रक्त-कण शरीर को काष्ठगत घुन की तरह खोखला बना देते हैं। परीक्षणों ने यह सिद्ध कर दिया है कि आवेग के समय रक्त-कण विषैले होते हैं। उन रक्त-कणों को शरीर में प्रक्षिप्त करने से तत्काल मृत्यु हो जाती है।

कहा भी है—'जितने मिनट क्रुद्ध रहते हो, प्रत्येक मिनट में आप सुख के साठ सेकेंड खोते हैं।'

खाली मन शैतान का घर—की भांति परिस्थितियां भी बुजदिल को ही परास्त करती हैं। शक्तिशाली के सम्मुख उनका आतंक निरातंक हो जाता है। क्लीव व्यक्ति ही परिस्थितियों के क्रीत दास होते हैं। छोटी-सी घटना उनके घुटने टिका देती है। अक्षम व्यक्ति एक-न-एक दिन शर्ट पर टांके हुए बटनों की भांति छिटकते-छिटकते टूट जाते हैं।

मानसिक संवेदनाओं का शरीर पर बहुत असर पड़ता है। हमारे शरीर में विभिन्न रोगों के विषाणु होते हैं। सहिष्णुता के उन्मेष में उनका आक्रमण नहीं चलता। मन कमजोर होते ही वे आक्रामक हो उठते हैं।

होमियोपैथी चिकित्सा के जनक डॉ. हैनिमेन ने कहा है—रोग का मूल स्वभाव या परिस्थितियों में है। इसमें सचाई भी है। मनुष्य के शरीर में दस प्रतिशत रोग शारीरिक होते हैं और नब्बे प्रतिशत मानसिक। अक्षमता से मानसिक संतुलन बिगड़ जाता है और स्वास्थ्य गिर जाता है। इसकी सचाई एक संवाद से समझ सकते हैं—

उर्वशी ने उर्मिला से कहा—'सखी! निर्धन होने पर भी तुम इतनी हृष्ट-पुष्ट हो और मैं संपन्न होने पर भी मरियल-सी।'

सखी ने कहा—'उपालम्भ हो या प्रशंसा, मेरा मानसिक संतुलन हर अवस्था में बना रहता है, क्रोध तो आता ही नहीं।'

उर्वशी—'आज तुझे अपने घर पर भोजन के लिए निमंत्रण देती हूं। तुम मेरे घर भोजन करने आओ।'

उर्मिला—'ठीक है।'

निमंत्रण पर वह भोजन के लिए उर्वशी के घर पहुंच गई।

परोसते-परोसते उर्वशी बोल पड़ी—'भैंस की तरह कितना खाती हो? सब चट कर गई हो।' उर्वशी ने विष ही उगला जैसे, बोली—'चल यहां से, किसने बुलाया?' उर्मिला के चेहरे पर तब भी मुस्कान देखकर वह झुक गई

चरणों में। बोली—'वास्तव में तुमने क्रोध को जीता है।'

चंदन स्वयं तो सुवासित होता ही है। अपने से संपृक्त एवं संपर्क साधने वाले को भी सुवासित कर देता है। यही बात क्षमाशील पर लागू होती है।

आचार्य चंद्ररुद्र के शिष्य सागरदत्त का जीवनवृत्त इसका जीवंत निदर्शन हो सकता है।

क्षमा और समाधि

मन में कई विकल्प उभरते रहते हैं। क्षमता उद्‌बुद्ध होती है। दोनों का एक साथ संगम नहीं। दाल और दही बेमेल हैं। वैसे ही विकल्प और समाधि में कोई मेल नहीं हो सकता।

विकल्प की उर्मियां मानस को उद्वेलित करती रहती हैं। क्यों? क्या? किसने कहा? किसलिए कहा? इत्यादि-इत्यादि—प्रश्नों से मानस विक्षुब्ध हो जाता है। इस प्रकार के विकल्प समाधि में बाधक बनते हैं। क्षमा के साथ विकल्पों की संगति नहीं बैठती। विषम व्यवहारों में भी क्षमाशील के मस्तिष्क में यह नहीं उभरता कि अमुक ने मेरे साथ अभद्र व्यवहार क्यों किया? क्या यह मेरे व्यक्तित्व से अनजान था, कि अंट-शंट बोलता गया और पशु की तरह ताड़ता गया। कबीर ने ठीक ही कहा है—

खोद खाद धरती सहे, और से सहा न जाए।

संभव है कि कबीर ने इसलिए ही अपने पास आने वाले विद्यार्थी की गृहस्थ और संन्यासाश्रम की जिज्ञासा को शांत करने के लिए शांति शूरि को ऊंचे टीले से सौ बार उतारा था। सौ बार उतरने पर भी मन पर कोई असर नहीं था। समाधि ज्यों-की-त्यों बनी रही।

समता के बिना समाधि और समाधि के बिना साधना सफल नहीं होती। कोटि वर्षों की चारित्र साधना को भी आवेश में आया हुआ मनुष्य घंटों में विफल बना देता है।

गिरी को पाने के लिए नारियल की तरह अपने को छीलना होता है। बाहरी परतों को उतारे बिना गिरी किसने पाई? अपने पर चढ़ी हुई परतों को उतारे बिना क्षमा का विकास नहीं होता। विकास के लिए अवकाश चाहिए, अभ्यास चाहिए। अभ्यास से असाध्य भी साध्य एवं सुसाध्य बन जाता है और चिर अभिलषित लक्ष्य संपन्न हो सकता है।

छिन्दन्ति भिन्दन्ति जनास्तथापि,
पुत्कुर्वमहे नो तव सन्निधाने।
क्षमा तनूजा इति संप्रधार्य,
क्षमा वहामोंन रूषं सृजामो।।

भाव पाहुड़ की मूल गाथा 108 का भी यही आशय है कि जिस मुनि ने क्षमा को अपनाया वह वंदनीय, पूजनीय एवं देवों, विद्याधरों, मनुष्यों द्वारा प्रशंसनीय है।

भगवती आराधना 1420-1426 में कहा है—क्रोध करने वाले के प्रति यह सोचो कि अमुक ने मुझे गाली ही दी, पीटा तो नहीं। अमुक ने मुझे प्रताड़ित ही तो किया, मेरा वध तो नहीं किया। वध करने पर सोचो कि वध ही किया, पर धर्म तो नष्ट नहीं हुआ।

क्षमा याचना के लाभ

क्षमा के अनेक लाभ हैं। लाभ को छोड़कर क्षमा से हानि तो कोई है ही नहीं। क्षमा से आह्लादपूर्ण मनोभाव विकसित होते हैं, सबके प्रति मैत्री का प्रादुर्भाव होता है, मन की निर्मलता का विकास होता है और अभय की प्राप्ति होती है।

क्षमा करने से मनुष्य मानसिक प्रसन्नता को प्राप्त करता है। मानसिक प्रसन्नता को प्राप्त हुआ व्यक्ति, सभी प्राण-भूत के पास मैत्री-भाव उत्पन्न करता है। मैत्री-भाव को प्राप्त हुआ जीव भावना को विशुद्ध बनाकर निर्भय हो जाता है।❖

किसी धर्म में पैदा होकर हम एक समूचा वातावरण अपने भीतर बिठा लेते हैं। थोड़ा बड़े होने तक अपने भीतर रचे हुए उस वातावरण से हम इतना गहरा सामंजस्य बिठा चुके होते हैं कि हम उससे दूर होकर दुनिया को देख ही नहीं सकते। साथ ही उस भीतरी वातावरण को भी हम निरपेक्ष होकर नहीं देख सकते। इसीलिए जब कोई किसी धर्म में निहित आदर्शों की बात करता है तो वह दरअसल उन ग्रंथों या परंपराओं में निहित आदर्शों का विश्लेषण कर रहा होता है जो उस धर्म से जुड़े हैं। यह कतई जरूरी नहीं है कि उस धर्म को मानने वाला कोई व्यक्ति उन आदर्शों से अनुप्राणित हो। इस तरह के विश्लेषणों का महत्त्व बहुत-से-बहुत संवाद चलाने के लिए होता है। संवाद दूसरे धर्मों के साथ हो सकता है और एक धर्म के भीतर भी हो सकता है।

—कृष्णकुमार

असफलता को तनाव में परिणत न होने दें। उससे मुंह भी न मोड़ें। एक विचारक का अभिमत है कि असफल व्यक्ति दो तरह के होते हैं। पहले वे, जो काम करते तो हैं, लेकिन सोचते नहीं। दूसरे वे, जो सोचते हैं, लेकिन कुछ करते नहीं। सोचने की क्षमता का प्रयोग किए बिना जिंदगी गुजारना ठीक उसी तरह है जैसे बिना निशाने तीर चलाना। महान व्यक्तियों की सफलता के पीछे असफलता की कहानी भी होती है। असफलता ही सफलता की राह दिखाती है, फिर तनाव क्यों? कहा भी गया है—अगर आप सफल होना चाहते हैं तो असफलता की दर दुगुनी कर दीजिए।

—❑—

❑ जीवन : एक उत्सव ❑

❀ मुनि रमेशकुमार ❀

जीवन स्वयं ही आनंद है, उत्सव है—यदि जीवन जीने का कौशल हासिल कर लिया जाए। कुशलता व कलात्मकता के लिए सतत प्रयास, प्रयोग और प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है। महापुरुषों का कथन है कि—'आनंद ही ब्रह्म है—आनंद ही सत्य है—आनंद ही जीवन है', जीवन का परम सुख आनंद है। हरेक की आत्मा में आनंद का वास है। इस दृष्टि से यदि भौतिक जीवन की गवेषणा करें, तो जीवन कोरा कागज है, जिस पर बहुत-कुछ लिखा जा सकता है। रंगों के खिलते प्राण ही नहीं—कुछ प्रण भी होगा, चिंता ही नहीं—चिंतन भी होगा, व्यथा ही नहीं—व्यवस्था भी होगी और राग ही नहीं—विराग भी होगा।

पर आज की परिस्थिति, वातावरण व पर्यावरण में सुख-शांति का इच्छुक व्यक्ति दुख एवं अशांति के चक्र-व्यूह में फंसकर इस जीवन से संघर्ष कर रहा है। सामान्य-से लगने वाले संघर्षों से आवेग-आवेश, आक्रोश, आरोप-प्रत्यारोप की ज्वाला से झुलसता हुआ मानव न जाने कितने तनावों को जन्म दे रहा है। उपभोक्तावादी जीवन-पद्धति के कारण पदार्थ की ओर आकर्षण बढ़ रहा है। स्वच्छ एवं स्वस्थ प्रतिस्पर्धा विकास के नए द्वार उद्घाटित कर सकती है परंतु, अर्थहीन प्रतिस्पर्धा की अनियंत्रित दौड़ के कारण वह तनावों से भरी जिंदगी जी रहा है। तनाव-मुक्त जीवन की कल्पना करना ऐसे लोगों के लिए स्वप्न-सा बन गया है। हंस-हंस कर आनंद लेने के स्थान पर जीवन में निराशा व उदासी छा रही है। निराशा एवं तनावों के कारण ही मनोरोग—जैसे डिप्रेशन, डिसऑर्डर, हिस्टिरिया, पैनिक डिसऑर्डर आदि बढ़ रहे हैं। इनका प्रमुख कारण मानसिक तनाव ही है। मनोरोगियों की बढ़ती हुई संख्या विश्वव्यापी समस्या बनती जा रही है। हाइपरटेंशन, एंजाइना, हार्टअटैक, रक्तचाप, अल्सर, सूगर, बदहजमी, सिरदर्द, दमा आदि अनेक बीमारियों के पीछे मानसिक तनाव की अहम भूमिका है। विश्व स्वास्थ्य संगठन की वर्ष 2002 की रिपोर्ट के अनुसार समाज के हर तीसरे घर में तनाव, क्रोध और अवसाद ने अपना स्थान बना लिया है। आत्म-हत्या की 90 प्रतिशत घटनाएं घोर अवसाद के क्षणों का ही परिणाम हैं। इनसे निजात पाने के उपायों को यदि अपनाएं, तो तनावरहित जीवन जीया जा सकता है।

क्यों आप तनाव में हैं?

उन कारणों पर पहले ध्यान दें जो तनाव उत्पन्न करते हैं। तनाव के बारे में अधिक जानने से पूर्व यह जान लेना भी उचित होगा कि क्या मैं स्वयं तनावग्रस्त हूं? यह जानने के पश्चात् ही तनाव के लक्षण एवं उपायों को समझना सरल होगा। तनाव के बारे में कुछ प्रश्न पूरी तटस्थता के साथ पहले अपने-आप में तलाश करें और उन लक्षणों को पकड़ें।

- क्या आप अपने को तनावग्रस्त महसूस करते हैं?
- क्या आपकी निद्रा में व्यवधान होता है?
- क्या आप सामाजिक गतिविधियों से सामान्यतः अपने-आप को दूर रखते हैं? क्या उत्तेजना उत्पन्न करने वाली गतिविधियों में भाग लेते हैं?
- क्या आप व्यावसायिक कार्यों में बहुत ज्यादा उलझ गए हैं या बिलकुल भी कार्य नहीं करते?
- कार्य के अलावा आपका निजी जीवन कैसा है?
- क्या आप बहुत जल्दी घबरा जाते हैं या अशांत हो जाते हैं?
- क्या आप नशीले पदार्थों का सेवन करते हैं?
- क्या आप बहुत चिंतित रहते हैं?

उपरोक्त लक्षणों के अतिरिक्त तनाव उत्पन्न करने वाले अन्य लक्षणों पर भी चिंतन किया जा सकता है। निकट संबंधी की असामयिक मृत्यु, दांपत्य जीवन में अनबन एवं तलाक, भारी कर्ज, परीक्षा में असफलता, नौकरी में पदोन्नति न होना और अधिकारी वर्ग से मन-मुटाव आदि। तनाव के ऐसे अनेक कारण हो सकते हैं। उन कारणों का सब पर भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ता है। शारीरिक, मानसिक एवं सामाजिक घटनाएं, जो नकारात्मक असर छोड़ती हैं, वही तनाव का कारक कहलाती हैं। पारिवारिक, व्यक्तिगत, सामाजिक, व्यावसायिक और आर्थिक समस्याओं के साथ-साथ भावनात्मक समस्याओं का मिश्रित फल भी तनाव की उत्पत्ति का कारण होता है।

मिथ्या दृष्टिकोण

अतीत की सतत स्मृति एवं भविष्य की काल्पनिक कल्पना से मस्तिष्क में तनाव जन्म लेता है। अतीत की स्मृति एवं भावी कल्पना से मुक्त होकर वर्तमान में जीने की आवश्यकता है। वर्तमान में जीने से नजरिया भी सकारात्मक बनता है। सकारात्मक दृष्टिकोण वाला व्यक्ति सदा विकसित कमल की तरह होता है, जिसको सदा निहारा जाता है।

असीम लालसा

असीम लालसा भी अशांति को जन्म देती है। विलासितापूर्ण जीवन से मानसिक असंतुलन बढ़ेगा। बिना लगाम का घोड़ा जैसे अनिष्ट कर देता है, वैसे ही निरंकुश इच्छा से भी तनाव बढ़ेगा। हम इच्छाओं के दास नहीं, बल्कि इच्छा हमारी दासी बने।

अनियंत्रित संवेग

भगवान महावीर ने कहा है—नो हीणे नो अइरित्ते—अपने-आप को कभी हीन न मानो। अतिरिक्त अहंकार मत करो। ममकार और हीनभावना ऐसे संवेग हैं जो व्यक्ति के समग्र जीवन-चक्र को प्रभावित करते हैं। तनाव-मुक्ति के लिए सभी प्रकार के संवेगों को संतुलित करना आवश्यक है। संतुलित होकर किया गया पुरुषार्थ व्यक्ति को सफलता की मंजिल तक पहुंचा देता है।

कार्य का आधिक्य

आज हर युवजन अपने 'कैरियर' को लेकर चिंतित है। अच्छे 'कैरियर' के लिए वह प्रतिस्पर्धा में यदि आगे बढ़ना चाहता है तो उसे अपने कार्यों की सूची समय के साथ तैयार करनी होगी। समय के सही नियोजन से वह अपने ऑफिस अथवा व्यापार, उद्योग में घर-परिवार के साथ रहता हुआ कार्य के बोझ का दबाव महसूस नहीं करेगा। काम की अधिकता में भी उसे बोझ का एहसास नहीं होगा और वह अपने कार्यों को रुचिपूर्वक करने लगा।

सहिष्णुता का अभाव

सहिष्णुता का संबंध शरीर से ही नहीं, मन और भावों से भी संपृक्त है। सहिष्णुता के बहुत लाभ हैं, जबकि असहिष्णुता से अलाभ ही अलाभ। असहिष्णु बनते ही अंतःस्रावी ग्रंथियों की रासायनिक प्रक्रिया बदल जाती है, जिससे नाड़ीतंत्र कमजोर होता है। परिणामस्वरूप व्यक्ति असहिष्णु बनता है। सफलता का सोपान सहिष्णुता है। इसे अन्य शब्दों में न्याय को सहन करने की स्थिति कहा जा सकता है। असहिष्णु व्यक्ति तो अन्याय या दुराचरण से मुकाबला नहीं कर सकता। जबकि सहिष्णु बनकर उनका प्रतिकार व परिष्कार संभव है।

सकारात्मक सोच

हर कार्य के लिए सकारात्मक सोच जरूरी है। वह कार्य चाहे निजी जिंदगी से संबंधित हो, व्यावसायिक क्षेत्र का हो या फिर सामाजिक। किसी भी क्षेत्र में कार्य करें, सफलता की नीवं सकारात्मक सोच ही है। एक काल्पनिक प्रसंग से यह तथ्य और स्पष्ट हो सकता है : आप कहीं गए और मेजबान ने आपकी चाय से मनुहार की। चाय पीते-पीते विचार आया कि कप तो आधा खाली है। ठीक उसी क्षण दूसरा व्यक्ति सोच रहा है कि कप आधा भरा है। भरा हुआ देखना सकारात्मक सोच है, आधा खाली देखना

नकारात्मक सोच। अपने-आप से पूछें कि मेरी सोच का सही तरीका क्या है? तनाव-मुक्ति के लिए सकारात्मक सोच को विकसित करना जरूरी है। किसी बात व काम को लेकर उलझन हो रही हो तो उसे कुछ समय के लिए विराम दे दिया जाना चाहिए। जब मन-मस्तिष्क शांत हो, तब नए सिरे से सापेक्षता के साथ सोचना चाहिए। सुख-दुख, लाभ-अलाभ, निंदा-प्रशंसा, मान-अपमान जीवन-चक्र से जुड़े विविध पहलू हैं। इन सब परिस्थितियों पर सामंजस्य, संतुलन एवं संयम से मुक्ति पाई जा सकती है।

असफलता को तनाव में परिणत न होने दें। उससे मुंह भी न मोड़ें। एक विचारक का अभिमत है कि असफल व्यक्ति दो तरह के होते हैं। पहले वे, जो काम करते तो हैं, लेकिन सोचते नहीं। दूसरे वे, जो सोचते हैं, लेकिन कुछ करते नहीं। सोचने की क्षमता का प्रयोग किए बिना जिंदगी गुजारना ठीक उसी तरह है जैसे बिना निशाने तीर चलाना। महान व्यक्तियों की सफलता के पीछे असफलता की कहानी भी होती है। असफलता ही सफलता की राह दिखाती है, फिर तनाव क्यों? कहा भी गया है—अगर आप सफल होना चाहते हैं तो असफलता की दर दुगुनी कर दीजिए।

तनाव के और भी अनेक कारण संभव हैं। योगशास्त्रों में भी इस विषय पर व्यापक चर्चा की गई है। आचार्यश्री तुलसी ने मनोनुशासनम् में मन की छ अवस्थाएं बतलाई हैं। मूढ़, विक्षिप्त, यातायात, श्लिष्ट, सुस्थिर और निरुद्ध—ये मन की छ अवस्थाएं हैं। इन में क्षिप्त, विक्षिप्त व मूढ़ की अवस्था से तनाव की उत्पत्ति होती है। क्षिप्त मन की अस्थिर अवस्था है। क्षिप्त मन में एकाग्रता का पूर्ण अभाव रहता है। इंद्रिय विषयों एवं भौतिक पदार्थों में क्षिप्त मन वाला तीव्र आसक्ति में रहता है। तीव्र भोगासक्ति से तनाव बढ़ता है।

मूढ़ अवस्था वाले व्यक्ति को कुछ अनुभव भी नहीं होता। दिग्मूढ़ व्यक्ति किसी भी कार्य को सम्यक् रूप से संपादित नहीं कर सकता। अध्यात्मविद् कहते हैं कि घटना को जानें, उसे भोगें नहीं। जानना एक बात है, भोगना दूसरी। ज्ञानी केवल जानता है, भोगता नहीं। अज्ञानी घटना को भोगता है और तनावों को जन्म देता है। जानने एवं भोगने के अंतर को समझ लिया जाए तो ज्ञाता-द्रष्टा का भाव विकसित होगा।

शरीर विज्ञान के अनुसार तनाव के कारण शरीर के भीतरी क्रियाकलापों के कार्य, क्रियाओं एवं संचालन में परिवर्तन होता है। मुख्य रूप से हाइपोथेलेमस, पिच्यूटरी ग्लैण्ड (पीयूष ग्रंथि), एड्रीनल (अधिवृक्क) एवं स्वायत्त नाड़ी संस्थान के अनुकंपी विभाग के स्रावों में बदलाव आता है। विद्युत-रासायनिक एवं हार्मोंस की ऊर्जा अधिक मात्रा में उत्पन्न होती है। आवश्यकता से अधिक उत्पन्न ऊर्जा मांसपेशियों में तनाव के रूप में परिणत हो जाती है। 'स्ट्रेस' के रूप में तनाव जहां शारीरिक व मानसिक विकास में सहायक होता है, वहीं एक निश्चित सीमा के पश्चात 'डिस्ट्रेस' यानी हानिकारक बन जाता है। इसका पता शरीर में हो रहे निम्नलिखित लक्षणों से जाना जा सकता है—

● बेचैनी, चिड़चिड़ापन, घबराहट ● याददाश्त, एकाग्रता में कमी ● अनिद्रा, आत्मविश्वास की कमी ● मांसपेशियों में खिंचाव ● सिरदर्द, गर्दन में दर्द ● कंधों, छाती व जोड़ों पर दबाव महसूस होना ● पेट में गैस, बदहजमी ● भूख कम या ज्यादा लगना ● असुरक्षा की भावना ● आक्रामकता।

ये सारे लक्षण शारीरिक, मानसिक एवं भावनात्मक स्तर के तनावों में पाए जाते हैं। इनमें से कुछ लक्षण अन्य रोगों के कारण भी हो सकते हैं। इसलिए जरूरी है कि समय रहते इन पर नियंत्रण किया जाए।

तनाव-मुक्ति का उपाय

तनाव से मुक्ति पाने का सरल, सशक्त, प्रभावी, आध्यात्मिक एवं वैज्ञानिक उपाय है—प्रेक्षा-ध्यान। इस ध्यान-साधना के सृजनहार मनीषी-दार्शनिक आचार्यश्री महाप्रज्ञजी हैं। प्रेक्षा-ध्यान के प्रयोगों से शरीर, मन और मस्तिष्क की आध्यात्मिक चिकित्सा संभव है। प्रेक्षा शब्द की संरचना ईक्ष् धातु के साथ 'प्र' प्रत्यय मिलने से हुई है। जिसका अर्थ है देखना। स्वयं के द्वारा स्वयं को देखना। अध्यात्म चेतना के जागरण का महामंत्र है—प्रेक्षा-ध्यान। इस ध्यान-साधना का सतत, सलक्ष्य प्रयोग करने से शारीरिक, मानसिक और भावात्मक तनावों से मुक्ति पाई जा सकती है।

प्रेक्षा-ध्यान साधना-पद्धति में तनाव-मुक्ति के लिए मुख्य रूप से महाप्राण ध्वनि, दीर्घश्वास प्रेक्षा, ज्योति केंद्र प्रेक्षा, कायोत्सर्ग, सहिष्णुता एवं धैर्य की अनुप्रेक्षा के प्रयोग बहुत सहायक बनते हैं। इन प्रयोगों के साथ सूक्ष्म यौगिक क्रियाएं, इष्ट वंदन, सूर्य नमस्कार आदि सहित कुछ चयनित आसन एवं प्राणायाम का सतत अभ्यास

तनाव-मुक्ति में बहुत सहायक हो सकता है। इसके साथ ही पथ्य आहार का सेवन एवं अपथ्य आहार का परिहार भी कराया जाता है।

तनाव से निजात पाने के अनेक उपाय हैं। किस समय कौनसा उपाय प्रयोग में लिया जाए, इसके लिए कुशल प्रशिक्षक से प्रशिक्षण लेना ज्यादा लाभकारी होता है। तनाव-मुक्ति के लिए अंग्रेजी दवाइयां व नशे के रूप में कोई भी पदार्थ ग्रहण करना शरीर के लिए घातक होता है।

समग्रतः परिवर्तित सामाजिक परिवेश में जहां तनाव, संत्रास एवं आत्म-विनियंत्रण गंभीर समस्या बनते जा रहे हैं, वहां सहिष्णुता, सौहार्द और सद्भाव ही ऐसे उपाय हैं, जो जीवन को आनंदमय बना सकते हैं। सदा स्मरण रखना चाहिए कि जीवन एक उत्सव है। इस जीवन को उत्सव के रूप में जीने की शैली विकसित करनी चाहिए। ❖

रचनाकारों से

जैन भारती में नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के विचार-प्रधान व विश्लेषणात्मक लेखों और मौलिक कहानियों-कविताओं का स्वागत है, प्रकाशित-प्रसारित रचनाओं का उपयोग करना संभव नहीं होगा

अपनी रचनाएं कागज के एक तरफ साफ-साफ टाइप की हुई भेजें
हाथ से लिखी हुई रचनाएं भी कागज के एक ओर ही लिखी हों

लिखावट साफ-सुथरी, बिना काट-छांट के होनी चाहिए
कागज के एक ओर पर्याप्त हाशिया अवश्य छोड़ें

जीवन परिचय, व्यक्तित्व व कृतित्व पर लिखे गए लेख सीधे नहीं भेजें
ऐसे लेख हमारे मांगने पर ही लिखें व भेजें तो बेहतर होगा

सम-सामयिक विषयों पर विचारात्मक टिप्पणियों का भी हम स्वागत करेंगे
ऐसे लेख भी नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के हों और विश्लेषणात्मक हों तो बेहतर होगा

महिलाओं, किशोरों और बाल-मन पर
आधारित रचनाओं का हम स्वागत करेंगे

आप चाहें तो कहानी-
कविता भी भेज सकते हैं

अप्रकाशित रचनाएं लौटाना अथवा इस बारे में
पत्र-व्यवहार करना संभव नहीं होगा

बेहतर हो, भेजी गई रचना की एक प्रति
रचनाकार पहले से ही अपने पास रखें

पता नहीं क्यों, मास्टरजी का घर देखने के लिए मैं इतना उतावला हो गया था। वे दुविधा में पड़कर मुझे अपने अपूर्व घर में ले गए। वे टिन की छाजनवाले एक कच्चे मकान के दुमंजिले पर एक छोटे-से कमरे में रहते थे। उस मकान की संकरी, टूटी हुई सीढ़ियों से चढ़ने में मुझे डर लग रहा था। बरामदे का हिस्सा हम लोगों के भार से कांप रहा था। मैं बड़ी सावधानी से उनके पीछे-पीछे चल रहा था। उन्होंने अपने कमरे का ताला खोला। वह कमरा बेहद छोटा और गंदा था। दीवार पर कुछ कैलेंडर लटके हुए थे। एक तरफ विवेकानंद की तस्वीर थी। फर्श पर एक खटिया बिछी थी, जिस पर एक चीकट तकिया पड़ा हुआ था। मास्टरजी मुझे बिठाकर, 'अभी आता हूं', कहकर अचानक कहीं चले गए। मैं उनका कमरा देखने लगा।

—❑—

❑ मास्टरजी ❑

❀ विभूतिभूषण बंद्योपाध्याय ❀

विधु मास्टर की बात मैं कभी भूल नहीं पाऊंगा। उनकी स्मृति शायद मुझे जीवन-भर ढोते रहनी पड़ेगी। सिर्फ कुछ महीनों के लिए ही उनसे मेरा संपर्क हुआ था, इसके बाद वे चले गए—सिर्फ इतने थोड़े-से दिनों की स्मृति ही आज अमर होकर रह गई है।

मुझे अभी तक याद है कि उस दिन रविवार था। मैं सुबह के वक्त 'कौमुदी' खोलकर आंखें बंद करके झूमता हुआ धातु रूप याद कर रहा था। ऐसे समय बाहर से किसी ने पुकारा, 'हारान बाबू हैं? हारान बाबू!'

बालकथा

मैंने खिड़की से अपना चेहरा बाहर निकालकर पूछा, 'कौन चाहिए?'

'यहां पर हारान बाबू नाम के कोई सज्जन रहते हैं?'

'जी हां! वे मेरे चाचा हैं।'

'जरा उन्हें एक बार बुलाओ तो।'

'उनसे क्या काम है?'

'उन्हें क्या किसी ट्यूटर की जरूरत है?'

मेरे मंझले चाचा ने हम लोगों को पढ़ाने के लिए अखबार में एक ट्यूटर का विज्ञापन दिया था। यह बात मैं एकदम भूल गया था। मैंने पूछा, 'शायद आप वही विज्ञापन पढ़कर आए हैं?'

'हां।'

'आइए, भीतर आइए। मैं मंझले चाचाजी को बुला लाता हूं।'

वे लंबे, दुबले, काले सज्जन सकुचाते हुए हमारी बैठक में आए। मैंने कहा, 'आप बैठिए!'

वे डरते-डरते-जैसे एक बार मेरी तरफ देखकर बगल की बेंच पर बैठ गए। उस अनाड़ी आदमी को देखकर उनके प्रति मेरी सारी श्रद्धा खत्म हो गई। मैंने कहा, 'इस कुर्सी पर बैठ जाइए।'

उन्होंने पहले तो इंकार किया, 'रहने दो, रहने दो।' फिर वे उस कुर्सी पर बैठ गए। मैं पंखा चलाकर मंझले चाचा को बुलाने ऊपर चला गया। मंझले चाचा नीचे आए, मैं भी उनके पीछे-पीछे था। मेरे साथ ही झंटू,

मिंटू, चांदू और रेवा थे। मंझले चाचा के बैठक में आते ही उन्होंने खड़े होकर, हाथ जोड़कर चाचाजी को नमस्कार किया। मंझले चाचा बोले, 'आप आज सुबह के अखबार में प्रकाशित विज्ञापन देखकर आए होंगे!'

उन्होंने कहा, 'हां।'

मंझले चाचा ने कहा, 'इन पांच लड़के-लड़कियों को पढ़ाना पड़ेगा। रात में तीन घंटे। वेतन के बारे में तो लिख ही दिया था, सात रुपये महीने। कोई नागा नहीं चलेगा।'

उन्होंने कहा, 'जी नहीं, भला नागा क्यों करूंगा!'

मंझले चाचा ने पूछा, 'आप रहते कहां हैं?'

'श्रीनाथ दास लेन में।'

'आपका नाम?'

'श्री विधुभूषण चट्टोपाध्याय।'

'कहां तक पढ़ाई की है?'

'मैट्रिक पास हूं।'

यह सुनकर मंझले चाचा अपने होंठों को भींचते हुए कुछ सोचने लगे। उन्होंने मेज पर कई बार अपना दाहिना हाथ पटका। इसके बाद बोले, 'आप फोर्थ क्लास के छात्र को पढ़ा पाएंगे।'

फोर्थ क्लास में सिर्फ मैं ही पढ़ता था। घर के बच्चों में मैं ही सबसे बड़ा था। मेरी छाती गर्व से फूल उठी। मैं विधु मास्टर के चेहरे की ओर एकटक देखने लगा। उन्होंने कहा, 'पढ़ा क्यों नहीं पाऊंगा?'

मंझले चाचा बोले, 'तो ठीक है। सोमवार से पढ़ाना शुरू कर दीजिए। शाम के ठीक छह बजे आ जाइएगा।' इसके बाद उन्होंने हम सभी से कहा, 'ये तुम लोगों के नए मास्टरजी हैं। इनके पास मन लगाकर पढ़ना। समझ गए?'

इसके बाद सोमवार को वे ठीक छह बजे आ गए। उन्होंने हम सभी से हमारा नाम पूछा। हमारी किताबें उलट-पुलटकर देखीं। मेरी अंग्रेजी किताब को ही ज्यादा देर तक देखते रहे। फिर बोले, 'काफी कठिन किताब पढ़ाई जाती है।'

उनकी बात सुनकर मुझे बड़ी खुशी हुई। मैंने कहा, 'इसके अलावा हमें अंग्रेजी में फिजिक्स-केमिस्ट्री भी पढ़ाई जाती है।'

उन्होंने चकित होकर कहा, 'अच्छा, ऐसा?'

मैंने उन्हें अपनी साइंस की किताब लाकर दिखलाई। उन्होंने पूछा, 'अब तक क्या पढ़ चुके हो?'

'प्रापर्टी ऑफ एयर' तथा 'बैरोमीटर'।

मेरी बात पर वे चौंक गए। मुझे बड़ा मजा आया।

उन्होंने फिर रेवा से पूछा, 'तुम्हारा नाम क्या है मुन्नी?'

रेवा शर्म से सिर झुकाए रही। किसी नए आदमी को देखकर वह इसी तरह शर्माती थी। मैंने कहा, 'अपना नाम बता दे न।'

वे रेवा के पश्मीने जैसे मुलायम बालों पर हाथ फेरने लगे। रेवा ने किसी तरह से जवाब दिया, 'लेबा!'

वह र का उच्चारण नहीं कर पाती थी। उन्होंने कहा, 'वाह! कितना प्यारा नाम है! बहुत बढ़िया नाम है तुम्हारा।'

फिर धीरे-धीरे जितने दिन बीतने लगे, रेवा की शर्म भी कम होती गई और विधु मास्टर का भी रेवा के प्रति प्यार बढ़ता गया। सिर्फ रेवा ही क्यों, वे हम सभी से बेहद प्यार करते थे। उनके आने के बाद लगभग रोज ही एक फेरीवाला आकर सुर में हांक लगाता—'ले लो अवाक जलपान, स्वादिष्ट भाजा, घुघनिदाना।'

मास्टरजी भी हम लोगों को अक्सर यह सब खरीदकर खिलाते थे। पहली बार वेतन मिलने के बाद उन्होंने हम सभी को बारह आने की कुल्फी खिलाई थी। इसलिए सभी मास्टरजी को बहुत चाहते थे। बस, मुझे वे नापसंद थे। मगर क्यों, यह पता नहीं। मगर अपनी अनिच्छा के बावजूद मुझे उनके अधीन रहना पड़ता था। यह मंझले चाचाजी का हुक्म था। मैं मंझले चाचाजी से बहुत डरता था, अपने माता-पिता से भी ज्यादा। इसलिए मैं मास्टरजी की गलतियां ढूंढ़ने लगा, जिससे कि मुझे उनके हाथ से रिहाई मिल जाए। मैंने एक दिन पूछ लिया, 'मास्टरजी, पहाड़ की ऊंचाई मापने

के लिए क्या बैरोमीटर की जरूरत पड़ती है?'

उन्होंने कहा, 'जरूरत पड़ती है क्या? किसने कहा?'

'स्कूल के मास्टरजी ने।'

'तो हो सकता है। कहां लिखा है, जरा बताओ तो।'

'साइंस की किताब में।'

'जरा देखूं किताब।'

मैंने उन्हें किताब देते हुए कहा, 'मास्टरजी, मेरी तो कुछ समझ में नहीं आया?'

उन्होंने किताब के पन्ने खोलते हुए कहा, 'ठीक है, समझा दे रहा हूं।'

लेकिन मुझे समझाना तो दूर रहा, वे खुद ही शायद उस किताब में अंग्रेजी में लिखे हिस्से का मतलब ठीक से नहीं समझ पाए। आखिरकार काफी देर बाद उन्होंने उसका अनुवाद किया। इसके बाद पूछा, 'समझ गए?'

मैंने कहा, 'कुछ भी समझ में नहीं आया।'

उन्होंने कहा, 'ठीक है। मैं तुम्हारी किताब घर ले जा रहा हूं। एक बार अच्छी तरह से पढ़ लूं, फिर समझा दूंगा।'

वे सचमुच किताब घर ले गए, फिर यथासमय उसे लौटा भी दिया, लेकिन मेरे सवाल का वे कोई जवाब नहीं दे पाए। यह बात चाचाजी को बताने पर वे बोले, 'ठीक है, वे कैसा पढ़ाते हैं, मैं पता करता हूं।'

दूसरे दिन से चाचाजी हम लोगों के पास बैठकर पढ़ाई कराने का तरीका देखने लगे। मास्टरजी की पढ़ाई में वे अक्सर गलतियां निकालते थे। कभी कहते, 'लूसी ग्रे के आखिरी दोनों स्टेंजा को जरा और विस्तार से समझा दीजिए। जरा इस पद को, इसके भावार्थ को ठीक से समझा दीजिए। समझ रहे हैं न?'

इस तरह की बातों पर मास्टरजी जवाब में कुछ भी नहीं कहते थे। चाचाजी की वे बड़ी इज्जत करते थे।

जिस सवाल में जरा दिमाग लगता था, उसमें वे थोड़े कमजोर पड़ते थे। एक दिन वे चाचाजी के सामने एक सवाल को एक्स से हल कर रहे थे। चाचाजी ने कहा, 'सब गड़बड़ हो गया मास्टरजी।'

उन्होंने पूछा, 'क्यों?'

चाचाजी ने कहा, 'इस सवाल को अलजेबरा के प्रोसेस से आप हल नहीं कर पाएंगे।'

खैर, वे किसी भी तरीके से मुझे वो सवाल समझा नहीं पाए। उनके चले जाने के बाद चाचाजी ने कहा, 'यह मास्टर ठीक नहीं है।'

इस घटना के बाद विश्वकर्मा-पूजा आ गई। हम लोगों ने कहा, 'मास्टरजी, हमें लटाई-पतंग खरीद दीजिए।'

वे राजी हो गए, क्योंकि उन्हें हाल ही में तनख्वाह मिली थी। उन्होंने हम लोगों को सेंट जेम्स स्क्वायर के दक्षिणी कोने की एक खूबसूरत दुकान में ले जाकर लगभग एक रुपये की लटाई और पतंग खरीद दी। लेकिन वे हमें जो-कुछ भी खरीदकर देते थे, उसके बारे में हमें किसी से कुछ कहना मना था। वे यह सब चीजें हमें छिपाकर देते थे। रेवा के जन्म-दिन पर उन्होंने तीन रुपये की एक चाभीवाली रेलगाड़ी खरीद दी थी। कहा था, किसी से इसका जिक्र मत करना।

विश्वकर्मा-पूजा के चार दिन बाद एक दिन श्रीनाथ दास लेन में मास्टरजी से भेंट हो गई। मैंने उन्हें नमस्कार किया। उन्होंने कहा, 'अरे पिंटू, कहां जा रहे हो?'

मैंने पूछा, 'आप कहां रहते हैं मास्टरजी?'

उन्होंने कहा, 'यहीं पास में ही।'

'चलिए आपका घर भी देख लूं।'

पता नहीं क्यों, मास्टरजी का घर देखने के लिए मैं इतना उतावला हो गया था। वे दुविधा में पड़कर मुझे अपने अपूर्व घर में ले गए। वे टिन की छाजनवाले एक कच्चे मकान के दुमंजिले पर एक छोटे-से कमरे में रहते थे। उस मकान की संकरी, टूटी हुई सीढ़ियों से चढ़ने में मुझे डर लग रहा था। बरामदे का हिस्सा हम लोगों के

भार से कांप रहा था। मैं बड़ी सावधानी से उनके पीछे-पीछे चल रहा था। उन्होंने अपने कमरे का ताला खोला। वह कमरा बेहद छोटा और गंदा था। दीवार पर कुछ कैलेंडर लटके हुए थे। एक तरफ विवेकानंद की तस्वीर थी। फर्श पर एक खटिया बिछी थी, जिस पर एक चीकट तकिया पड़ा हुआ था। मास्टरजी मुझे बिठाकर, 'अभी आता हूं', कहकर अचानक कहीं चले गए। मैं उनका कमरा देखने लगा। उनकी गरीबी को देखकर मुझे बड़ा दुख हुआ। कमरे में कोई दूसरा कपड़ा नहीं था। एक कपड़ा जरूर था, जो काफी फटा-पुराना और बेहद काला था। एक कमीज और सिर्फ एक धोती में उन्हें दिन बिताने पड़ते थे। उनके लिए मुझे बहुत सहानुभूति पैदा हो गई। उनके प्रति अपनी घृणा को मैं एकदम भूल गया। मुझे लगा, जैसे मैं एकदम बदल गया हूं।

ऐसे समय मास्टरजी एक ठोंगे में कुछ खाने की चीज लेकर कमरे में आए। मैंने दुखी होकर पूछा, 'इसे क्यों ले आए मास्टरजी?'

वे मेरी बात सुनकर कुछ चकित हुए। बड़े संकोच से बोले, 'अरे नहीं, यह ऐसा कुछ नहीं है।'

मैं समझ गया कि उनकी मेहनत की कमाई को इस तरह बरबाद करने का मतलब था, उनके शरीर का एक-एक बूंद खून निचोड़ लेना। मैंने भरसक इनकार करते हुए कहा, 'नहीं, ऐसा कभी नहीं हो सकता।'

मेरी दृढ़ प्रतिज्ञा देखकर उनके चेहरे पर हमेशा रहनेवाली मुस्कान गायब हो गई। उनका मुंह सूख गया वे बोले, 'यह क्या कहते हो पिंटू?'

अब और कहने का कुछ साहस नहीं हुआ। खैर, घर लौटते समय उस दिन मैंने प्रतिज्ञा की कि अब कुछ ऐसा इंतजाम करना पड़ेगा कि मास्टरजी को हमारे लिए कोई खर्च न करना पड़े। कुछ भी हो, बेचारे इन्हीं थोड़े-से रुपयों के भरोसे इस कोलकाता में रह रहे थे।

लेकिन अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार काम करने से पहले एक बहुत बुरी घटना घट गई। मंझले चाचाजी ने एक दिन मेरी ट्रांसलेशन की कॉपी देखते-देखते मास्टरजी से कहा, 'आप यह सब क्या पढ़ा रहे हैं मास्टरजी? देख रहा हूं, आपको अंग्रेजी बिलकुल नहीं आती। 'आई लिव इन ए बोर्डिंग' वाक्य में 'इन' ने ऐसा क्या अपराध किया कि आपने उसे हटाकर 'ऐट' लगा दिया है। दरअसल उसने गलती कहां की है, यह आपको नजर नहीं आया। इसके अलावा 'एवरी बुश एण्ड एवरी ट्री वाज इन बड' वाक्य में 'वाज' को काटकर 'वेयर' किस ग्रामर के अनुसार लिख दिया? आप फोर्थ क्लास के छात्र को इसी तरह पढ़ाएंगे?'

मास्टरजी शर्म से सिर झुकाए बैठे रहे। और मैं? मैं बेहद आशंका से भर उठा। मंझले चाचाजी ने कहा, 'तभी सोच रहा हूं बच्चे पढ़ाई-लिखाई में इतने पिछड़ क्यों रहे हैं? पिंटू, जरा अपने छमाही इम्तहान की 'प्रोग्रेस रिपोर्ट' ले आओ।

मैं डरते-डरते अपनी प्रोग्रेस रिपोर्ट ले आया। मंझले चाचाजी ने कहा, 'देखिए, कितना खराब रिजल्ट है। अंग्रेजी में फेल और बाकी में किसी तरह घिसट-घिसटकर पास हुआ। इसके बाद क्या अब आफत को रखने की हिम्मत की जा सकती है? ऐसा काम तो इनके पैरों में कुल्हाड़ी मारना होगा। आप अपनी बकाया तनख्वाह दो तारीख को ले जाइएगा।'

मंझले चाचाजी की बात पर मास्टरजी ने प्रतिवाद तक नहीं किया। बिना कुछ कहे वे चुपचाप उठकर चले गए। मुझे उनकी ओर देखने की हिम्मत नहीं हुई। इसके लिए कसूरवार तो मैं ही था। मैंने ही तो मास्टरजी की गलतियों के बारे में मंझले चाचाजी से कहकर उन्हें भड़का दिया था।

मैं अपराधी की तरह सिर झुकाए बैठा रहा। ❖

केवल शास्त्रों के पठन-पाठन तथा प्रशंसा से एवं अध्यात्म की बात करने से ही आत्म-भावना का विकास नहीं होता है। व्यक्ति तभी आध्यात्मिक होता है जब उसकी इच्छादि संसार-भावना का विराम हो जाता है।

—**अर्हद्गीता** (1/14)

With best compliments from :

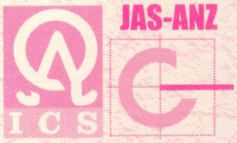

ISO 9001 : 2000
Reg. No:RQ91/335

SUNLAND METAL RECYCLING INDUSTRIES

Head Office :

13, ANAND BUILDING, FIRST FLOOR, 24, FANAS WADI
MUMBAI 400002 INDIA

PHONE : (022) 5633 0487 / 88 / 89 / 5639 4327 / 29
TELEFAX: (022) 5639 4328 FAX : (022) 5633 0490

Factory :

SURVEY NO. 89/1/2, KARAJGAM
DADRA & NAGAR HAVELI, SILVASSA 396230

PHONE : (0260) 2677327/2677451/52 TELEFAX: (0260) 2677328
E-mail: sunland@vsnl.com

जैन भारती, सितंबर, 2005 ■ भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पं. सं. : आर जे/डब्ल्यू आर /11/48/03-05
'Licensed to Post without Pre-Payment' Under Licence No. RJ/WR/PP/Bikaner13/2004

Your Partner in Progress

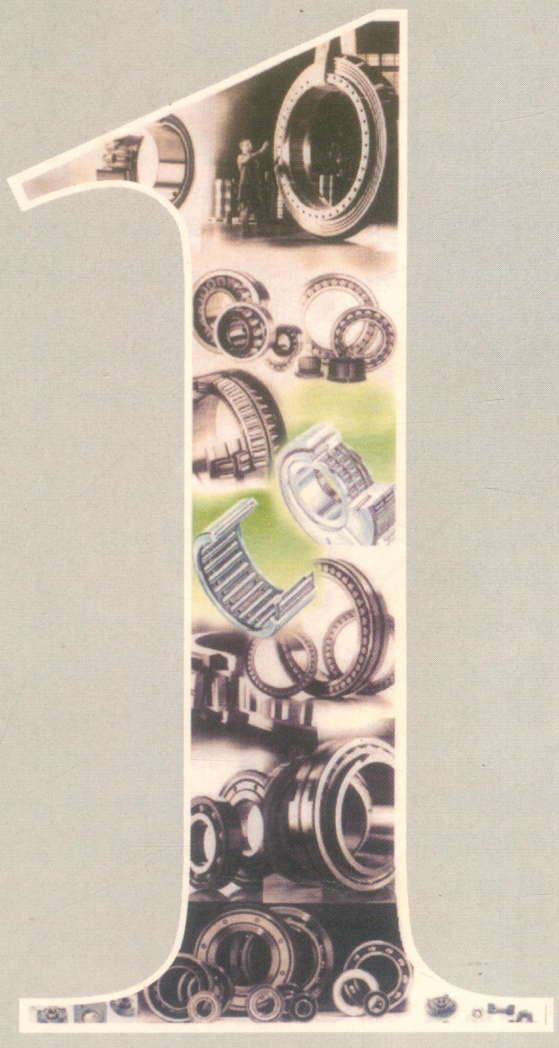

India's No. 1 Company for Bearing Distribution and Shaft solution

INA
Authorised Distributor

Premier (India) Bearings Ltd.

407 & 413 Marshall House, 4th Floor, 25, Strand Road, Kolkata - 700001
Phone : 2220 0640/1926, Fax : (033) 2248 5745
E-mail : pibl@vsnl.com

FAG Star Distributor

Our Branches Office : • Chennai • Mumbai • Chandigarh • Gurgaon • Kochi • Ludhiana

Website : http://www.mahadealer.com

तरुण सेठिया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।